भक्ति पथ
ॐ
294.54
SAR
प्रकाशक
वदा भक्ति आश्रम - मोती झील - वृन्दाव

भक्ति-पथ

परमहंस श्री १०८

स्वामी कृष्णानन्द जी सरस्वती

वेदवेत्ता, दर्शनतत्त्वज्ञ

★

संकलनकर्त्री

प्रभा 'रश्मि'

प्रकाशक

सुखदा भक्ति आश्रम

मोतीझील, वृन्दावन (उ० प्र०)

प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म

अयमात्मा ब्रह्म

तत्त्वमसि

अहंब्रह्माऽस्मि

मुद्रक—संगीत प्रेस, हाथरस

श्रद्धा के दो पुष्प

जगन्नियन्ता, जगदाधार, अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डाधिनायक, परमपिता परमेश्वर, सर्वेश्वर, विश्वेश्वर, अखिलेश्वर परम प्रेमास्पद प्रभु की परम कृपालुता से आज यह पावन 'भक्ति-पथ' प्रभु चरणानुरागी जनता-जनार्दन के समक्ष प्रस्तुत है।

हजारों वर्ष पूर्व विश्व में जिस ज्ञान, कर्म और भक्ति के सामंजस्य की अजस्र धारा योगयोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण जी के द्वारा इस भूतल पर प्रवाहित की गई थी, आज इस घोर कलिकाल में भी उसी ज्ञान, कर्म तथा भक्ति के प्रवाह को अक्षुण्ण बनाये रखने वाले, श्री कृष्ण जी के अनन्य भक्त परमपूज्य श्रद्धेय गुरुदेव वेदवेत्ता, दर्शनतत्त्वज्ञ, श्री १०८ परमहंस श्रीस्वामी कृष्णानन्द जी महाराज के मुखारविन्द से निःसृत सारगर्भित, मनोहारी, मानव-कल्याणकारी एवं सरस प्रवचनों को, जो कि हाथरस, हरिद्वार, अमृतसर, कपूरथला, शिमला, लखनऊ, जगाधरी, नरवाना, अम्बाला, हापुड़ आदि स्थलों पर हुए हैं, मैंने अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार संकलित करने का अल्प प्रयास किया है ताकि यत्र-तत्र बिखरे हुए यह भाव-पुष्प ग्रन्थ-माल्य में गुँथकर भगवत्-प्रेमी जनता को भक्ति रूपी सौरभ से आप्लावित कर मानव-जीवन को सफल बना सकें। यदि भगवत्-चरणानुरागिनी जनता ने इससे किंचितमात्र भी लाभ उठा लिया तो मैं अपना यह प्रथम एवं लघु प्रयास सफल समझूँगी और इससे भविष्य में भी मुझे प्रेरणा मिलेगी ताकि महाराजश्री का यह पावन एवं कल्याणकारी सन्देश जन-जन तक पहुँचाकर सुख तथा शान्ति प्राप्त कर सकूँ।

प्रस्तुत 'भक्ति-पथ' में महाराजश्री ने उस भक्तिमय मार्ग का प्रदर्शन किया है, जो कि इस घोर कलियुग में भगवान्

की प्राप्ति का एकमात्र साधन है, क्योंकि भक्तवत्सल भगवान् तो केवल एक भक्ति का ही नाता मानते हैं। इसमें जिस लक्ष्य की प्राप्ति का पावन संदेश महाराजश्री ने दिया है, वह कितना अटल सत्य है कि यदि उस परमपिता परमेश्वर को हृदय-मंदिर में आसीन कराना है, तो सर्वप्रथम हृदय को स्वच्छ अर्थात् वासनारहित बनाना होगा, तभी वह परम प्यारा अपना बन सकता है, क्योंकि जब तक मन-सदन में कोई दूसरा होगा तब तक उस प्यारे के रहने के लिए स्थान ही कहाँ हो सकता है ? प्यारे के लिए तो एकान्त-साधना चाहिए, इसीलिए तो ऋषि-मुनि-जन संसार से विलग होकर ही उस परमात्मा का दर्शन कर सके।

यद्यपि इस आध्यात्मिक भक्ति-पथ को हमारे वेद, पुराण, शास्त्र, मुनिजन एवं महान् पुरुष बतलाते चले आ रहे हैं, फिर भी महाराजश्री के इन प्रवचनों ने इस पथ को आज की विषम परिस्थितियों में भी अत्यन्त सुगम एवं सरल बना दिया है, ताकि तनिक-सा प्रयास भी मानव को भगवत्-कृपा का साक्षात्कार करा सके। इसी कारण गुरुदेव महाराज जी ने अपने भक्त-जनों के विशेष अनुरोध एवं प्रार्थना को स्वीकार कर अपने अमूल्य विचारों के संकलन द्वारा जन-जन का कल्याण करने का निश्चय किया है, यह हमारे धार्मिक-जगत् के लिए परम सौभाग्य का विषय है। इसके अतिरिक्त महाराजश्री के पावन प्रवचनों का दूसरा संकलन "ज्ञान-पथ" के नाम से निकट भविष्य में (१९६५ में) प्रकाशित हो रहा है।

परमपूज्य श्रद्धेय गुरुदेव की परम कृपा जो इस अकिंचन पर हुई है, उसके लिए में किन शब्दों में आभार-

प्रदर्शन करूँ, बस यही कह सकती हूँ कि शायद किसी गत जन्म के पुण्य ही साकार हो गए हैं। पाठकगण से मेरा विनम्र निवेदन है कि यदि कहीं किसी भी प्रकार की लेखन-शैली में कोई त्रुटि आ गई हो तो मेरी ही अयोग्यता समझकर क्षमा प्रदान करें तथा श्रद्धेय गुरुदेव महाराज जी के सद्-उपदेशों को अपने जीवन में उतार कर भगवत्-भक्ति का रसास्वादन करें। साथ ही मैं उन भाई-बहिनों के लिए भी आभारी हूँ जिन्होंने समय-समय पर महाराजश्री के प्रवचनों का संकलन भेजकर मुझे सहयोग प्रदान किया है।

विनीत—
प्रभा 'रश्मि'

सुखदा भक्ति आश्रम के सदस्य

१	सुश्री सुखदादेवी, प्रिन्सिपल	हाथरस
२	स्वर्गीय श्री रामशरणदास, ज्योतिषाचार्य	जालन्धर
३	सुश्री प्रभा रानी शर्मा एम. ए. बी. एड.	लखनऊ
४	सुश्री श्यामप्यारी, प्रधानाचार्या	कपूरथला
५	श्री ज्ञानचन्द अग्रवाल, गोपालकृष्ण अग्रवाल	अम्बाला
६	श्री रामदास हर्षकुमार बहल	कपूरथला
७	श्री शान्तिस्वरूप अग्रवाल	जगाधरी
८	श्री मदनगोपाल अग्रवाल	यमुनानगर
९	श्री शिवकुमार गौड़, बिजली मिल्स	हाथरस
१०	श्री बैजनाथ चतुर्वेदी	हाथरस
११	श्री बालकृष्ण खन्ना	फिरोजपुर
१२	श्री डा० ओ० पी० नैय्यर	फिरोजपुर
१३	स्वर्गीय श्री दिवान वेदप्रकाश	नरवाना
१४	श्री हरदयाल, एडवोकेट	फिरोजपुर सिटी
१५	श्री के० एल० खुल्लर, एडवोकेट	फिरोजपुर कैण्ट
१६	श्री राजकुमार मैनी	फिरोजपुर सिटी
१७	श्री बक्शीराम कपूर	होशियारपुर
१८	श्री एस० पी० शर्मा, मेजर	प्रतापगढ़
१९	श्री मुलखराज मैनी	फिरोजपुर
२०	दिवान श्री कृष्णकुमार	नरवाना

२१ श्री बनारसीदास	भटिण्डा
२२ श्री दीनानाथ गर्ग	नरवाना
२३ दिवान श्री जवाहरलाल सिंघल	नरवाना
२४ श्री त्रिसेनचन्द्र अग्रवाल	नरवाना
२५ दिवान श्री लक्ष्मणकुमार	नरवाना
२६ श्री बी० एस० भटनागर	देहली
२७ श्री के० एल० मुंजाल	देहली
२८ श्री गुरदित्तामल रामकृष्ण	जलालाबाद
२९ श्री मुलखराज सेतिया	जलालाबाद
३० श्री नानकचन्द बनारसीदास	यमुनानगर
३१ श्री मनोहरलाल	लुधियाना
३२ श्री ओमप्रकाश अग्रवाल	कैथल
३३ श्री सेठ भीमसेन जी	कैथल
३४ श्री रामेश्वरदयाल गुप्ता, मजिस्ट्रेट	फरीदकोट
३५ श्री नन्दलाल रामनारायण	देहली
३६ श्री इन्द्रमोहन	भिवानी
३७ श्री मनोहरलाल	देहरादून
३८ श्री लाला जयभगवान्	जगाधरी
३९ श्री आशानन्द साहनी	देहली
४० श्री रामचन्द सन्तकुमार	कपूरथला
४१ श्रीमती कमलेश तिवारी	कैथल
४२ श्री डाक्टर बद्रीदास	देहली
४३ श्री जगमोहन बधुआ	मुक्तसर
४४ श्री जगन्नाथ शर्मा	जबलपुर

समर्पण

जिनके बतलाए हुए पथ द्वारा, भगवत्-
कृपा विशेष को ही जीवन का साध्य
मान लेना मेरी दिनचर्या बन जाए,
उन्हीं परमपूज्य श्रद्धेय परब्रह्म-
स्वरूप गुरुदेव के श्री
चरणों में यह लघु
प्रयास सादर
समर्पित
है।

प्रभा 'रश्मि'

दीपमाला संवत् २०२१
३ नवम्बर १९६४
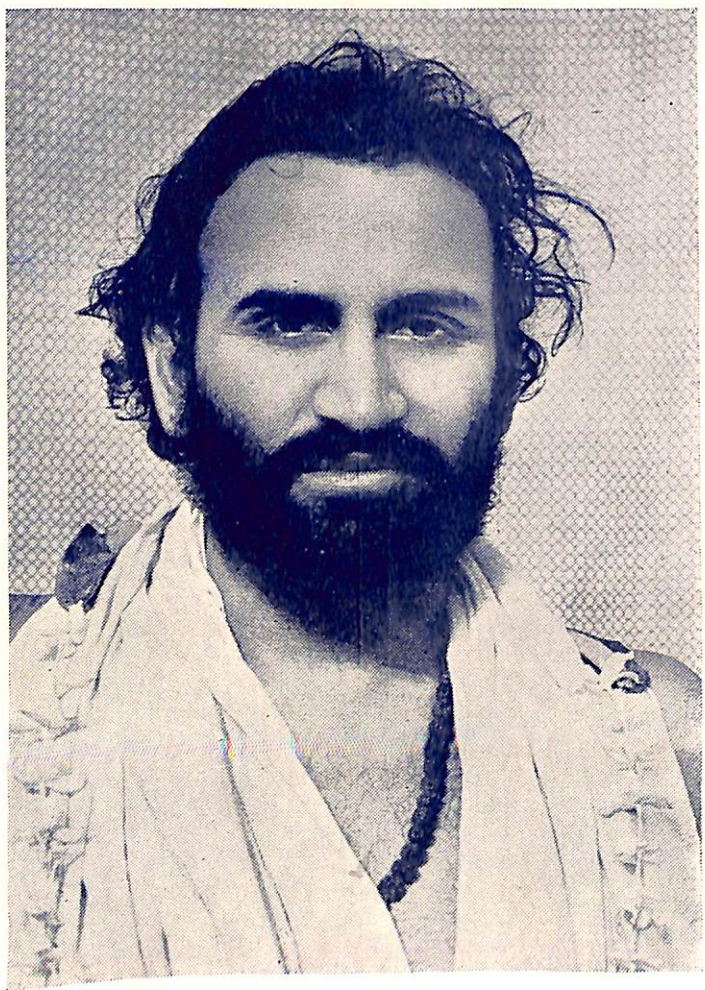
परमहंस श्री १०८

स्वामी श्री कृष्णानन्दजी सरस्वती

सर्वव्यापक चेतन

सर्वत्र व्यापक चेतन ही ईश्वर का प्रतिबिम्ब लक्षित करता है, जो सत्य, ज्ञान, प्रेम और आनन्द-स्वरूप है।

सत्य—सत्य वह है, जो तीनों कालों में है और प्रत्येक परिस्थिति में एकरस रहे।

ज्ञान—ज्ञान उसे कहते हैं, जो चेतन अपने आपको भी जाने और सबको भी जाने। केवल चलने-फिरने वाले को ही चेतन ज्ञान-स्वरूप नहीं कहते। घड़ी की सुई हर समय चलती है—लेकिन चेतन नहीं; मोटर, रेल आदि चलती भी हैं और आवाज़ भी देती हैं; लाउडस्पीकर बोलता है और टेपरिकार्डर अपने आप लैक्चर (भाषण) सुनाता है, लेकिन चेतन नहीं। बस चेतन वही है जो

जिस प्रकार श्री गंगाजी का जल-प्रवाह निरन्तर अखण्ड रूप से महासागर की ओर बहता रहता है उसी प्रकार भगवान् की अपरम्पार लीलाओं का श्रवण मात्र करने से मन की गति अविच्छिन्न रूप से उस अन्तर्यामी जगन्नियन्ता ईश्वर के प्रति हो जाना ही भक्ति-योग का लक्षण है। ऐसी भक्ति में भक्त को किसी भी वस्तु की कामना नहीं रहती और सांसारिक कृत्य करते हुए भी न उसे सुख का अनुभव होता है न दुख का; न राग न द्वेष और न विषयजन्य सुख की इच्छा ही होती है, उसे तो एकमात्र ईश्वरप्राप्ति की कामना ही शेष रह जाती है और सभी प्रकार की कामनाएँ नष्टप्राय: हो जाती हैं।

अपने आपको भी जाने और भावाभाव को भी जाने उसे ज्ञान-स्वरूप (ईश्वर) कहते हैं। ज्ञान-रहित जड़ से हम लोग प्रेम नहीं करते बल्कि मोह करते हैं, क्योंकि प्रेम में पारस्परिकता होती है और मोह में एक ओर से आत्मीयता और दूसरी ओर से जड़ता होती है। जैसे कोई व्यक्ति कहता है कि मेरी कार है और कार में उसका प्रेम है, दिन-रात उसी का चिन्तन करता रहता है, किन्तु कार को तो पता भी नहीं कि लालाजी मुझे याद भी करते हैं या नहीं। प्रेम का और ज्ञानस्वरूप चेतन का तो पारस्परिक सम्बन्ध है। प्रेम में तो त्याग और प्रेमास्पद (प्यारा) के प्रति भावना और हित छिपा रहता है, स्वप्न में भी उससे प्रेमास्पद का अहित नहीं होता, किन्तु मोह में स्वार्थ होता है और वो अपने प्रेमास्पद के प्रति उपकार की भावना नहीं रखता। जैसे जेब में पड़ा हुआ पैसा जिससे हमने अति प्रेम किया है वह हमारा हित ही करे यह शर्त नहीं, उससे ही हमारे लिए कोई विष भी खरीद कर ला सकता है। इसी प्रकार सिर-हाने के पास में रात को हमारी चारपाई पर रक्खा हुआ भाला, जिससे हमें अति प्रेम है और हमारी रक्षा का साधन है, वह प्रतिकूल स्थिति में हमारी गर्दन की भी रियायत नहीं करेगा। जेब काटने वाला हमसे मीठी बातें कर सकता है लेकिन हमारा हित नहीं सोच सकता।

निष्काम भाव से भगवान् के प्रति जिनका अनन्य प्रेम हो जाता है वह भगवान् की दी हुई सर्व सुखों की खान मुक्ति की भी कामना नहीं करता। अपने इष्टदेव की सेवा के लिए मोक्ष को भी त्यागने वाला व्यक्ति ही भगवान् की भक्ति का अधिकारी है, जिसे भगवान् की प्राप्ति के अलावा किसी अन्य वस्तु से न प्रेम है और न ही उसकी कामना करता है।

मीरा का भगवान् के साथ और महात्माओं के साथ प्रेम था जो कि मीरा ने परिवार और समाज को त्याग कर सन्त-समाज ग्रहण किया। सन्त हरिदासजी से तो मीरा का अति प्रेम था और भगवान् के प्रति प्रेम-भावना की तो पराकाष्ठा ही थी, तभी तो मीरा ने सर्प, विष आदि को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया, क्योंकि उसे अपने प्रेमास्पद का दिया हुआ प्रसाद मानकर ग्रहण किया था। इसी प्रकार सूरदासजी और तुलसी-दासजी का भी परस्पर अत्यन्त प्रेम था, अगर प्रेम न होता तो एक दूसरे के लिए जेल न काटते, लेकिन परहित था जिसमें धर्म, मर्यादा आदि छिपी थी।

गुरु नानकदेव के विषय में भी सर्वविदित है कि घरवालों ने रुपया दिया कि सच्चा सौदा कर आओ, उन्होंने महात्माओं को भोजन, भण्डारा आदि करा दिया। 'गुरु-ग्रन्थसाहब' में एक स्थान पर आता है—

"लोगों सों मेरा ठागा बागा,
सन्तन सों व्यवहारा।"

श्री मद्भागवत में आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रजी ने भी अपने प्रियभक्त उद्धव से इसी श्रेष्ठ भक्ति के विषय में कहा है—

हे उद्धव ! जिस भक्त ने समस्त सांसारिक विषय-वासनाओं से अपने मन को हटा लिया है और सभी प्रकार से मुझे समर्पित कर दिया है तथा जो मेरे अतिरिक्त और किसी की प्राप्ति की कामना भी मन में नहीं लाता, यहाँ तक कि वह इन्द्रलोक, ब्रह्मपदवी, योग-सिद्धी, मोक्ष आदि को भी नहीं पाना चाहता, वही श्रेष्ठ भक्ति है, जिसमें भक्त के हृदय में भगवद्-प्राप्ति के अतिरिक्त कोई इच्छा ही शेष न रह जाए।

तात्पर्य यह है कि मैं लोगों के साथ तो ऐसा व्यवहार—हाँजी-हाँजी, ठीक है-ठीक है करके निभाता हूँ, परन्तु मेरा सच्चा व्यवहार तो महात्माओं से है।

कबीर का तो कहना ही क्या, वह तो लिखते हैं—

"कबीर धुनिया जात का निसदिन धुनत कपास।
जा दिन साधू ना मिले ता दिन करत उपास॥"

अतएव उपरोक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि जो हमारे प्यारे ईश्वर से सम्बन्ध रखनेवाले हैं, उनसे किया हुआ प्रेम तो निश्चित ही शुद्ध प्रेम का प्रतीक है, उसमें मोह की लेशमात्र भी झलक नहीं आती इसी कारण इस प्रेम में बड़े से बड़ा त्याग सहर्ष स्वीकार कर लिया जाता है, क्योंकि त्याग अपने प्रेमास्पद के लिए होता है।

आनन्द—अब रहा आनन्द। भगवान् सुख-स्वरूप, आनन्द स्वरूप हैं। प्रेम में आनन्द का अन्तर-भाव है, स्वार्थ में राग का और राग में द्वेष का अन्तर-भाव छिपा रहता है। जहाँ प्रेम में शान्ति है, वहाँ राग में अशान्ति; जहाँ प्रेम के रोने

जिस प्रकार भक्त प्रहलाद की आर्तपुकार सुनकर जब भगवान् श्रीनृसिंह का रूप धारण कर प्रगट हुए, तो प्रहलाद को अनेकों वरों का प्रलोभन दिखाकर उसकी भगवद्भक्ति की परीक्षा ली। अन्त में भगवान् से भक्त ने यही प्रार्थना की कि—

"हे प्रभो! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं और वरदान देना ही चाहते हैं, तो फिर मुझे यह वर दीजिए कि मेरे मन में किसी भी सांसारिक वस्तु की कामना न उत्पन्न हो, जो कि आपके स्मरण में विघ्न उपस्थित करे।"

में भी आनन्द है, वहाँ राग-सहित हँसने में भी खतरा और भय है। प्रेम की कल्पना में भी आनन्द है और राग (स्वार्थ-सहित प्रेम) की चर्चा में भी अशान्ति और उद्विग्नता है।

"Love is God and God is love".

ईश्वर का प्रेम ईश्वर नहीं, शुद्ध प्रेम ईश्वर-स्वरूप है। यह तमाम जगत् शुद्ध चेतन-प्रेम-स्वरूप ईश्वर से बँधा हुआ है। गोपियों का भगवान् से प्रेम था; माँ यशोदा का भगवान् से प्रेम था, लेकिन मोह न था; इसी कारण उन्हें समस्त जगत् कृष्ण-मय दृष्टिगत होता था।

अतः ईश्वर की सत्ता सर्वव्यापक है।

मोक्ष की प्राप्ति करने के साधनों में भक्ति ही सब साधनों में उत्तम है, इसीलिए भक्ति को ही प्रथम स्थान दिया गया है। जीव द्वारा अपने नित्य, शुद्ध, सत्य स्वरूप की खोज करना ही भक्ति है। वेदान्त के अनुसार भी स्वरूप का अनुभव करना ही भक्ति है और भक्त का दृष्टि-कोण भगवान् की प्राप्ति ही भक्ति का चरम लक्ष्य एवं फल है। वास्तव में दोनों का ही लक्ष्य एक है। इसके विषय में श्री गोस्वामी तुलसीदासजी ने मानस में एक स्थान पर बहुत सुन्दर लिखा है—

"ज्ञानहिं भक्तिहिं नहिं कछु भेदा।
उभय हरहिं भव-संभव-खेदा॥"

भक्ति के लक्षण

महर्षि नारद के कथनानुसार सर्वश्रेष्ठ भक्ति वह है, जिसमें भक्त स्वयं फल की इच्छा न करके समस्त कर्मों को भगवान् को समर्पित करदे और तनिक भी भगवान् के ध्यान की विस्मृति होने पर व्याकुल हो उठे।

भक्तवर प्रहलाद ने भक्ति के स्वरूप को बतलाते हुए भगवान् से याचना की है—

हे नाथ! मैं कर्मों के वशीभूत होकर चाहे कितनी भी योनियों में क्यों न भटकूँ परन्तु उन सभी योनियों की यातना सहन करते हुए भी मैं आपको न भूलूँ और जिस प्रकार बिषयानुरागी व्यक्ति की विषयों में अविचल आसक्ति रहती है उसी प्रकार अनन्त योनियों में भटकते हुए भी आपका स्मरण करते हुए आपके प्रति मेरी प्रीति बनी रहे और मैं कभी भी आपको न भूलूँ।

भगवान् के चरित्रों को सुनने से जब भक्त का हृदय द्रवित (पिघल) हो उठता है और अन्तःकरण भगवदाकार होजाए, वही भक्ति श्रेष्ठ है।

आवश्यकता से अधिक खानेवाला अपने ऊपर नियंत्रण नहीं रख सकता। इसी प्रकार आवश्यकता से अधिक सोने, जागने, बोलने, सुनने वाला भी अपने संयम और स्वास्थ्य को अल्पकाल में ही खो बैठता है।

× × × ×

स्वच्छता देवत्व की ओर बढ़ाती है किन्तु बनावट (कृत्रिमता) भोगों की ओर।

अपरा और परा भक्ति

भक्ति भी दो प्रकार की होती है 'अपरा भक्ति' और 'परा भक्ति'। 'अपरा भक्ति' साधन-स्वरूप है और 'परा भक्ति' साध्य-स्वरूप है। जिस भक्ति में अन्तःकरण भगवदाकार हो जाए वही पराभक्ति है।

अपराभक्ति भी दो प्रकार की होती है—वैधी और रागात्मिका।

वैधी भक्ति—वह है जिसमें भगवान् के प्रति मन में भक्ति भावना तथा प्रेम न होने पर भी गुरुजनों तथा शास्त्रों की आज्ञानुसार मानव नित्य-प्रति नियमानुसार भगवान् का पूजन, सन्ध्यावन्दन, जाप, स्वाध्याय आदि करता है, अर्थात् जिसमें भक्त भगवान् के प्रति प्रेम की व्याकुलता उत्पन्न करने के प्रयत्न करता है। इसमें स्वाभाविकता पहले नहीं होती।

रागात्मिका भक्ति—वह है जिसमें ईश्वर के प्रति सहज-स्वाभाविक प्रेम की उत्पत्ति हो जाती है। यह ऊपर से लादी गई भक्ति नहीं होती, इसका आरम्भ स्वतः ही होता है। जैसे मछली का जल से, मयूर का मेघ से, चकोर का चन्द्रमा से, पतंगे का दीपक से, प्यासे का पानी से, कमल का सूर्य से

सुन्दर पहनने की अपेक्षा सुन्दर भोजन अच्छा है, सुन्दर भोजन की अपेक्षा सुन्दर बोलना अच्छा है, सुन्दर बोलने की अपेक्षा सुन्दर आचरण अच्छा है और अगर चारों ही वस्तु सुन्दर हों तो फिर वह मानव दैवी-गुणों का आगार ही होगा।

आदि-आदि का स्वाभाविक प्रेम होता है। ऐसी ही अवस्था जब भक्त की आजाए कि वह बिना भगवान् के रह न सके, तो उसका भगवद्-प्रेम स्वाभाविक होता है।

अपने इष्टदेव में राग का उत्पन्न होना, अधिक आवेश का होना और उसमें तन्मय हो जाना ही रागात्मिका भक्ति है। जिस भक्ति में भगवान् को छोड़कर किसी अन्य की कामना भी न करे, वही श्रेष्ठ भक्ति है। जिस प्रकार लोभी लोभ को नहीं छोड़ सकता है और जिस किसी भी सांसारिक पदार्थ का लोभी है, बस उसी की प्राप्ति की कामना किया करता है।

श्री मद्भागवत में स्वयं श्रीकृष्णचन्द्र जी ने अपने भक्तवर उद्धव जी से कहा है—

"भक्ति लब्धवतः साधो किमन्यदवशिष्यते।"

अर्थात् जिस मनुष्य को मेरी भक्ति प्राप्त हो गई है, उसके लिए कोई भी वस्तु अप्राप्य नहीं रह जाती। अनन्य भक्ति-योगी

प्रेम मुख में आने से कृत्रिमता के आश्रित हो जाता है। प्रेम गुप्त रहने से रसायन बन जाता है। प्रेम के दिखाने से सांसारिकता बढ़ जाती है। प्रेम स्वार्थ से नरक बन जाता है। प्रेम क्रियारूप में परिणत होकर सेवा या प्रेमयुक्त क्रिया बन जाता है।

प्रेम प्रेमी और प्रेमास्पद के हृदय में रहकर ही शुद्ध प्रेम रहता है।

"ए जब्त मेरे इश्क की उनको खबर न हो।
दिल में हज़ार दर्द उठें आँख तर न हो॥"

रोते हुए को तो भगवान् दयापूर्वक मिलते हैं, लेकिन प्रेम-पुजारी किसी प्रसन्नचित्त को जब भी मिलते हैं, तब प्रेम के आधीन होकर हँसते हुए ही मिलते हैं।

के लिए भक्ति-योग होने के कारण किसी भी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रहती। इसी प्रकार की भक्ति-भावना गोस्वामी तुलसीदास जी की रामायण में भी स्पष्ट रूप से मिलती है:—

"भक्ति स्वतन्त्र सकल गुनखानी।
बिनु सत्संग न पार्वाहं प्रानी॥"

भगवान् के प्रति यदि मन में सच्चा प्रेम नहीं, तो फिर ऐसी मर्यादित भक्ति का क्या लाभ, क्योंकि यह तो केवल समय व्यतीत करने का साधन मात्र ही है।

जिस व्यक्ति के मन में भगवान् के प्रति सहज प्रेम नहीं होता, उसी के लिए वैधीभक्ति लाभप्रद हो सकती है। भक्ति के भी तीन स्तर है—प्रथम वैधीभक्ति, द्वितीय रागानुगाभक्ति और तृतीय पराभक्ति।

प्रथम वैधी भक्ति वह है, जिसमें साधक मन में भगवान् के प्रति भक्ति-भावना न होने पर भी शास्त्रादि की आज्ञानुसार

जैसे सर्प अपनी केंचुली को घसीटता फिरता है, लेकिन केंचुली में सर्प की प्रीति नहीं। ठीक इसी प्रकार ज्ञानी भी अपने शरीर को घसीटता फिरता है, उसमें ज्ञानी का राग नहीं, केवल रक्षा-भावना है।

× × × ×

दाँत मुख में ही शोभा प्राप्त करते हैं, निकलने के पश्चात् तो घृणा के ही पात्र बन जाते हैं। ठीक इसी प्रकार केश सिर पर ही शोभित होते हैं, उससे अलग होकर त्याज्य हैं और शरीर प्राणयुक्त होने पर ही प्रशंसनीय होता है, प्राणरहित शरीर भी त्याज्य है।

स्वर्ग आदि के प्रलोभन के कारण दूसरों का अनुसरण करते हुए भगवान् की भक्ति करता है और नियमपूर्वक जप आदि करने में संलग्न रहता है।

द्वितीय रागानुगाभक्ति वह है जिसमें नियमानुसार जप आदि करने से साधक के हृदय में भगवान् के प्रति सहज प्रेम उत्पन्न हो जाता है।

तृतीय पराभक्ति वह है जिसमें साधक को भगवान् के स्मरण में तन्मयता हो जाती है और उसे एक भगवान् के अतिरिक्त किसी का भी बोध नहीं रह जाता, यहाँ तक कि उसे अपना भी ज्ञान नहीं रहता।

उपर्युक्त तीनों प्रकार की भक्ति का क्रम ठीक उसी प्रकार साधक को साधना में लगाने का है जैसे कि माता-पिता बालक को विद्याध्ययन कराने के लिए सबसे पहिले उसे मिठाई, पारितोषिक आदि का प्रलोभन देकर उसके मन में विद्या-अध्ययन के प्रति रुचि उत्पन्न कराने की चेष्टा करते हैं, परन्तु कुछ समय के उपरान्त वही बालक विद्या-अध्ययन करने में सहज रुचि लेने लगता है। इस अवस्था में माता-पिता को बालक से कहना नहीं पड़ता है और न ही किसी प्रकार के

अगर तुम अधिक चतुर बनोगे तो तुम्हें लोगों की चिन्ता करनी पड़ेगी और अगर कम चतुर (पागल) बनोगे तो लोग तुम्हारी चिन्ता करेंगे।

× × × ×

मरना मुश्किल नहीं, मुश्किल है किसी के होकर जीवन बिताना और इससे भी अधिक मुश्किल है किसी को अपना बनाकर निभा देना।

प्रलोभन की आवश्यकता रह जाती है। इसके उपरान्त तीसरी अवस्था वह आ जाती है जबकि उसी बालक की विद्या-अध्ययन में स्वाभाविक तन्मयता उत्पन्न हो जाती है और इस अवस्था में यदि माता-पिता बालक से विद्या से विमुख होने को भी कहें तो भी वह तैयार नहीं होता।

ठीक यही स्थिति एक साधक की भी है कि पहिले तो उसे भगवान् की ओर लाने के लिए प्रलोभन आदि दिये जाते हैं लेकिन जब सहज प्रेम उत्पन्न होकर तन्मयता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो प्रयत्न करने पर भी उसे भगवान् से विमुख नहीं कराया जा सकता। यही भक्ति की पराकाष्ठावस्था है, जिसमें साधक भगवान् से भिन्न नहीं।

मानव जीवन

शास्त्रादि के अनुसार मानव-जीवन को तीन भेदों में विभाजित किया गया है जिनके अन्तर्गत वह अपने जीवन का विकास करता है।

मानव-जीवन के तीन भेद इस प्रकार हैं—

(१) आधिभौतिक जीवन (२) मानसिक जीवन (३) आध्यात्मिक जीवन।

ईश्वर में व्यापक भावना हो, उसी को जीवन का लक्ष्य बनालो तो सभी मार्ग पुष्पमय बन जाएँगे।

× × × ×

अपना जीवन एक खुली हुई पुस्तक के समान बनाओ।

आधिभौतिक जीवन—वह है जिसमें खाना, पीना, सोना, बाल्य, युवा, जरा, रोग आदि का स्थूल शरीर के साथ सम्बन्ध होता है।

मानसिक जीवन—वह है जिसमें राग, द्वेषादि, चिन्ता, वासना, संकल्प आदि का शरीर से सम्बन्ध होता है।

आध्यात्मिक जीवन—वह है जबकि मनुष्य को संसार की नश्वरता का ज्ञान हो जाता है और दैववश उसके हृदय में विवेक उत्पन्न हो जाने से संसार के प्रति घृणा तथा भगवत्प्राप्ति की व अपने को जानने की विकलता पैदा हो जाती है, तब उसमें सत्य,अहिंसा, धीरता, मधुरता, प्रेम, परोपकार आदि सद्गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है और जीव अपने को आध्यात्मजीवी बनाकर कृतकृत्य हो जाता है। यही जीवन वास्तव में सच्चा जीवन है। इसी जीवन के आधार पर मनुष्य अजर-अमर हो जाता है।

विषयों के विशेष संभोग से तृप्ति नहीं हो सकती, तत्-सम्बन्धी चातुर्य बढ़ सकता है। अतः चिनगारी बुझाओ, प्रचण्ड अग्नि पर काबू पाना कठिन है।

×　　　　×　　　　×

जिसका चित्त धन पाकर विरक्त, महत्ता पाकर विनम्र और सौन्दर्य पाकर भी विचार-रहित रहता है, वह निश्चित् ही महान् पुरुष है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने भी अपने भक्त उद्धव से जीवन की सफलता के विषय में कहा है कि सांसारिक भोग-पदार्थों के संग्रह करने में जीवन की सफलता नहीं है अपितु आध्यात्म जीवन ही श्रेष्ठ कोटि का जीवन है जिसमें संसार में होने वाली प्रत्येक गति में भगवान् के दर्शन ही होते हैं।

नारद जी ने भी भक्ति का सर्वोत्तम लक्षण बतलाते हुए कहा है कि श्रेष्ठ भक्त सदैव यही चाहता है कि मैं अपने नेत्रों से एकमात्र अपने प्रभु की मोहिनी मूर्ति को देखा करूँ, कानों से अपने प्यारे का गुणगान सुना करूँ, जिह्वा से भगवान् के गुणों का गान करूँ, मन से प्रभु का मनन और चित्त से अपने आराध्यदेव का चिन्तन करूँ आदि-आदि एवं मन-वचन-कर्म से भगवान् की सेवा करने में ही इन्द्रियों की सफलता है। इस प्रकार भगवान् का अनन्य भक्त भगवान् के अतिरिक्त किसी भी प्रकार के सुख एवं पदार्थ की कामना नहीं करता है। वह तो मरणासन्न भी भगवान् से यही प्रार्थना करता है कि मरने के

संत शिवली से किसी ने पूछा कि आप अपने को अब क्या समझते हैं। शिवली ने उत्तर दिया 'भैया जैसे अक्षरों पर बिन्दु होता है।' जब सन्त जुनैद ने यह बात सुनी तो उन्होंने कहा कि भगवान् शिवली को सद्बुद्धि दें जोकि वह अहंकारशून्य हो जाए। वो तो अभी भी अपने आपको कुछ समझते हैं।

× × ×

बिना प्रेम का जीवन लुहार की धौंकनी की तरह है, जो केवल श्वासों की पूर्ति कर रहा है।

उपरान्त भी मेरे शरीर-सम्बन्धी पाँचों तत्त्व अपने-अपने तत्त्वों में मिल जाएँ, लेकिन मेरे शरीर का जलीयअंश उस सरोवर में मिल जाए जहाँ मेरा प्यारा नित्य स्नान करे, आकाश-अंश उस आकाश में मिले जिसके नीचे मेरा प्यारा अपनी अद्‌भुत लीलाओं से भक्तों को मोहित करता हो, मेरा अग्नि-अंश उस शीशे में मिल जाय जिसमें मेरा प्यारा नित्यप्रति अपनी मोहिनी छबि निहारता हो, मेरा पृथ्वी-अंश उस भूमि में मिल जाए जिस पर मेरे प्यारे के चरण-कमल नित्य ही पड़ते हों और वायु-अंश उस पंखे की वायु में मिल जाए जिससे मेरे प्रियतम का ताप दूर किया जाता हो।

इस प्रकार श्रेष्ठ भक्त की सदैव यही कामना बनी रहती है कि जीतेजी मैं अपने को भगवान् की सेवा में लगादूँ और मरने के बाद भी इस नश्वर शरीर से भगवान् की ही सेवा कर सकूँ।

जीवन उसी का सार्थक है जो किसी के लिए जी रहा है, केवल अपना उदर-पोषण करनेवाला व्यक्ति तो श्वानवत् ही है, जोकि दूसरे के मुख में टुकड़ा देखकर भोंकना प्रारम्भ कर देता है।

× × ×

जिसके मूल में अज्ञान है उसे किसी भी कर्म से सन्तोष नहीं होगा और जिसके मूल में ज्ञान है वह कुछ भी न करने पर भी सन्तोष का ही आनन्द लेता रहता है।

नवधा भक्ति

भगवान् के प्रति तन्मयता की भावना ही अनन्य भक्ति की पराकाष्ठा है। गोस्वामी तुलसीजी ने भी मानस में भक्ति के प्रकार बतलाए हैं जोकि इस प्रकार हैं—

(१) श्रवण भक्ति
(२) कीर्त्तन भक्ति
(३) स्मरण भक्ति
(४) पाद–सेवन भक्ति
(५) अर्चन भक्ति
(६) वन्दन भक्ति
(७) दास्यभाव भक्ति
(८) सख्यभाव भक्ति
(९) आत्मनिवेदन भक्ति

श्रवण भक्ति—वैधी भक्ति का प्रथम अंग श्रवण है। श्रवण भी तीन प्रकार का होता है, भगवान् के नाम, स्वरूप और गुण का श्रवण करना।

हम जिस तरह का बनना चाहते हैं हमें वैसा ही चिन्तन करना चाहिए।

× × ×

जो समय बीत चुका है उसका चिन्तन मत करो। पुरुषार्थ (भगवत्-चिन्तन) अभी से प्रारम्भ करदो, देखो मंजिल आगई।

"फासला क्या पूछते हो कूचाए महबूब का,
जैसा मुश्ताक हो नजदीक भी है, दूर भी है।"

अब प्रश्न यह उठता है कि वैधी-भक्ति के प्रथम स्तर पर श्रवण को ही प्रधानता क्यों दी गई है ?

यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि बिना सुने किसी भी पदार्थ में रुचि नहीं होती और रुचि के अभाव में प्रीति नहीं हो सकती। जब तक जीव भगवान् के स्वरूप, शक्ति, गुणादि का श्रवण नहीं करता तब तक उसे भगवान् के चरण–कमलों में रुचि उत्पन्न नहीं होती और बिना रुचि के भगवान् से प्रेम नहीं हो सकता, बिना प्रेम के भावना उत्पन्न नहीं होती और बिना भावना के भगवान् के प्रति अटूट भक्ति की भावना जागृत नहीं हो सकती है।

जिस प्रकार एक अज्ञानी को एक बहुमूल्य हीरा घर में होने पर भी उसके स्वरूप, गुण आदि का ज्ञान नहीं है तो वह उसे यथोचित स्थान न देकर कहीं भी फेंक देता है, किन्तु जब कभी भाग्यवश उसे किसी जौहरी के द्वारा उस पत्थर के टुकड़े के मूल्य का ज्ञान हो जाता है तो वह उस हीरे को पूरी तरह सुरक्षित स्थान पर रख लेता है और जब कभी उसे उस हीरे का ध्यान आ जाता है तो आनन्द से हृदय–विभोर हो उठता है।

छोटे–बड़े मन्दिर, गुरुद्वारे, गिरजा आदि में भगवान् तो सर्वत्र ही बड़े हैं। ठीक इसी प्रकार भावनापूर्ण की हुई थोड़ी देर की भी सेवा, श्रद्धा-सहित किया हुआ स्वल्प-दान और समय पर किया हुआ छोटा-सा परोपकार भी उस छोटे मन्दिर के बड़े भगवान् की तरह बड़ा है।

× × ×

जगत् की चर्चा से राग-द्वेष बढ़ता है, किन्तु भगवान् या किसी भक्त की चर्चा से राग-द्वेष घटता ही नहीं, अपितु जन्म-मरण का चक्कर ही कट जाता है।

ठीक यही स्थिति एक साधक की होती है जिसने महात्माओं व शास्त्रों से इस शरीर में स्थित भगवान् के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जिससे कि अब वह अपने को अपने प्रेमास्पद से अभिन्न समझने लगा है तथा भगवान् में उसकी अनन्य रति हो जाती है।

लेकिन भगवान् के स्वरूप, नाम एवं गुणों का श्रवण भी उसकी विशेष अनुकम्पा के बिना सम्भव नहीं है। जैसाकि 'मानस' में श्री गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है कि—

"बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं सन्ता।"

क्योंकि यह जीव भगवान् से बिछुड़कर संसार के माया-जाल में इतना उलझ जाता है कि उसे उसका ध्यान ही नहीं रहता है और भगवान् भी कर्मानुसार जीव को इस माया के बन्धन में बाँध देते हैं। केवल वही साधक, जिस पर उसकी कृपा हो जाती है, उसको ही वह अपने पास बुलाता है शेष संसार-चक्र अपनी गति के अनुसार चलता ही रहता है।

"धन का स्वामी स्वामी नहीं, पत्नी का स्वामी भी स्वामी नहीं, और मकानों का स्वामी भी स्वामी नहीं—बस स्वामी वही है जो मन का स्वामी है, जो अपने आपका स्वामी है।"

× × ×

"अगर तुमने ग़लती की है तो दण्ड सहर्ष और शान्त-भाव से स्वीकार करलो—प्रायश्चित् हो जाएगा और यदि ग़लती नहीं की है तो भी दण्ड सहर्ष और शान्त भाव से स्वीकार करलो—तपस्या हो जाएगी जिसका पावन फल रहस्योद्घाटन के समय तुम्हें अति मधुर मिलेगा।"

जैसे एक माँ के कई बच्चे हैं, जोकि अपने-अपने खेल में तल्लीन हैं। एक बालक है जोकि अपने आप ही दीवाल के साथ लगा हुआ खेल रहा है तो माँ उसको अपने पास लाने की लेशमात्र भी चिन्ता नहीं करती है, क्योंकि उसने यह भली प्रकार समझ लिया है कि बालक अपने में ही खोया हुआ है। दूसरा बालक है जो माँ की गोदी में आने के लिए रोता है, तो उसे माँ खिलौना देकर बहलाने की चेष्टा करती है ताकि बालक उसे भूल सके, अगर वह एक खिलौने से सन्तुष्ट नहीं होता, तब उसे और भी कई खिलौने अधिक बड़े और आकर्षक देती है ताकि वह उसके पास न आए। इस प्रकार दूसरे बालक को वह खिलौनों में उलझा देती है, लेकिन तीसरा बालक वह है, जिसे माँ कितने ही प्रकार के खिलौने आदि का प्रलोभन देकर उसे अपने से दूर रखना चाहती है, किन्तु बालक तो माँ की गोद में ही आने को मचलता रहता है। उसे कोई भी वस्तु माँ से अधिक प्रिय नहीं होती है। जब माँ को यह विश्वास हो जाता है कि बालक मेरी गोदी में आए बिना चुप न होगा, चाहे उसे कितने ही विभिन्न रँगों एवं प्रकार के खिलौनों में उलझाने की

जो गर्भ धारण करे वह धातृ, जो जन्म दे वह जननी, जो पालन करे वह अम्बा और जो ममता रखे वह माता कहलाती है।

× × ×

समुद्र ने सभी नदियों से एक साथ पूछा कि तुम बड़े-बड़े वृक्ष, लक्कड़, लोहे की भारी चीज़ें, पत्थर और अनेक चीजें मेरी भेंट में लाती हो, किन्तु आज तक तुम मेरी भेंट में बेंत नहीं लाईं। नदियों ने एक स्वर में उत्तर दिया कि जो हमारे समक्ष खड़ा रहता है उसे तो हम जड़ से उखाड़कर आपके समीप ले आती हैं, किन्तु क्या करें, जब भी हम तेजी में आती हैं बेंत हमारे समक्ष झुक जाता है।

चेष्टा की जाए, तभी वह उस बालक को उठाकर हृदय से लगा लेती है। ठीक यही स्थिति मानव की भी है। जो व्यक्ति इन सांसारिक खिलौनों में उलझ जाते हैं, भगवान् भी उनकी परवाह नहीं करता, लेकिन जो भक्त किसी भी प्रकार के सांसारिक ऐश्वर्य को भगवान् के बदले स्वीकार करने को तत्पर नहीं होता, उसी को वह परमपिता अपने हृदय से लगा लेता है।

श्रवण भी श्रद्धा से पूर्ण होना चाहिए, क्योंकि श्रद्धा के अभाव में श्रवण कभी स्थायी नहीं रहता, साथ ही विश्वास का होना भी अति अनिवार्य है। भगवान् के परम श्रद्धालु उद्धव, श्री हनूमान, अर्जुन, मीरा, शबरी आदि भक्तों ने भगवान् के स्वरूप, नाम, गुण आदि का श्रवण पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास के साथ किया है, तभी तो वे परलोक के भागी बने। उत्तमकोटि के भक्त को तो हरि-गुण श्रवण करते-करते कभी सन्तोष ही नहीं होता है और भगवान् से साक्षात्कार होजाने के उपरान्त भी श्रवण की यह इच्छा सदैव बनी ही रहती है, जैसाकि गोस्वामी तुलसीदासजी ने बतलाया है—

"जीवन मुक्त महामुनि जेऊ। हरिगुन सुनहिं निरन्तर तेऊ॥"

महात्मा की आयु लगभग नब्बे वर्ष की होरही थी कि उनका प्राणान्त-काल जब समीप आया तो सन्त ने अपने शिष्य को समीप बुलाकर उसके सामने मुँह खोल दिया। शिष्य ने कहा "गुरुदेव मैं आपकी बात नहीं समझ सका।" गुरुदेव ने कहा "हमारी यह अन्तिम शिक्षा है कि मुँह में जीभ तो उदर से साथ आई और साथ ही जारही है, किन्तु दाँत बाद में आए थे और पहले चले गए। क्योंकि जिह्वा में जितनी विनम्रता है, दाँतों में उतनी ही कठोरता है।"

क्योंकि भगवान् की लीलाओं के श्रवण मात्र से ही जन्म-जन्मान्तर के पाप विनष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार शरद-ऋतु के आते ही समस्त गंदला जल निर्मल एवं स्वच्छ हो जाता है उसी प्रकार भगवान् के गुणों का श्रवण जब हृदय में प्रविष्ट होता है तो भक्त के पापों का नाश होकर हृदय पवित्र बन जाता है और यही पवित्र हृदय भगवान् के रहने का स्थान है। जैसाकि श्रवण की महिमा बतलाते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी ने मानस में कहा है—

"जिनके श्रवण समुद्र समाना।
कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥
भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे।
तिनके हृदय सदन तव रूरे॥"

अर्थात्—भक्तों की श्रवणेन्द्रिय समुद्र के समान अथाह है और भगवान् की कथाएँ गंगा-यमुना, सिन्धु आदि नदियों के समान निरन्तर बहने वाली हैं। जिस प्रकार ये नदियाँ दिन-रात बिना किसी रुकावट के समुद्र में जाकर गिरती रहती हैं

"जो दयालु होता है वह न्यायकारी नहीं होता है और जो न्यायकारी होता है उसका दयालु होना असम्भव है, किन्तु परमेश्वर जहाँ न्यायकारी है वहाँ परमदयालु भी है। यह विशेषता केवल उसकी ही है, यह किसी अन्य की सामर्थ्य नहीं।"

× × ×

"अपने दुर्गुण और दूसरे के गुण देखने की अपेक्षा अधिक अच्छा है, अपने दुर्गुण अपने आप निकाल देना और दूसरों में अपने द्वारा गुणों का समावेश कर देना।"

फिर भी समुद्र कभी जल से परिपूर्ण नहीं होता। उसी प्रकार भक्तों के हृदय भगवान् के गुण का श्रवण करते-करते कभी सन्तुष्ट नहीं होते हैं। वे भगवत्लीला के रस का पान करते हुए कभी तृप्ति की अवस्था को नहीं प्राप्त होते।

अतः भगवान् की अद्भुत लीलाओं का श्रवण तथा स्मरण करते हुए साधक को सांसारिक वस्तुओं के प्रति अनासक्ति की भावना रखनी चाहिए, यही मानव-जीवन का लक्ष्य है अन्यथा मानव-जीवन पशुवत है जिसे अपने परमतत्त्व का ज्ञान नहीं होता। सब कुछ करता है किन्तु अज्ञानवश !

कीर्त्तन—वैधी भक्ति का दूसरा अंग कीर्त्तन है। बहुत से भगवान् के प्रेमी मिलकर जब उसके नाम आदि का गुण-गान करते हैं तो उसे संकीर्त्तन कहते हैं। यह भी तीन प्रकार का होता है यथा नाम-संकीर्त्तन, स्वरूप-संकीर्त्तन व गुण-संकीर्त्तन।

कलियुग में कीर्त्तन का विशेष महत्त्व बतलाया गया है। श्री शुकदेव मुनि ने कहा भी है कि सतयुग में भगवान् का ध्यान

"बिना गार्ड की ट्रेन और गुरू के मानव-जीवन में कितने नुकसान उठा सकते हैं, यह नहीं बताया जा सकता।"

× × ×

"गुरु रूपी पुल जिसे उपलब्ध होगया है, वह अपने आपको पार समझे, यदि वह साधक चलनेवाला (पुरुषार्थी) हो तो। क्योंकि पुल पार उतारता तो है, किन्तु केवल चलनेवाले को ही; बैठे, खड़े या सोए हुए को नहीं।"

करने से, त्रेतायुग में अनुष्ठान करने से भगवान् की प्राप्ति हो पाती है, किन्तु कलियुग में सबसे सुगम साधन है संकीर्त्तन, अर्थात् भगवान् केवल गुण-गान मात्र से ही प्रसन्न होकर भक्त पर रीझ जाते हैं ।

भगवान् के नाम-गुण-स्वरूप का श्रवण करने के बाद संकीर्त्तन की स्थिति आती है, लेकिन यह संकीर्त्तन भावों से पूर्ण होना चाहिए, तभी फलदायक होता है अन्यथा नहीं । जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश घोर अन्धकार का विनाश कर देता है, वैसे ही भगवान् के गुण-गान के संकीर्त्तन से भक्त के आन्तरिक कष्ट नष्ट हो जाते हैं ।

मानव-जीवन के कल्याण के लिए श्रवण और संकीर्त्तन दोनों ही बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि जिस बात का बार-बार श्रवण होगा, उसका ही पुनः-पुनः संकीर्त्तन होगा, उसी का स्मरण भी बना रहेगा । अतः संकीर्त्तन ही समस्त सिद्धियों का देने वाला है ।

गुरु मानव के अन्दर अच्छाई नहीं डालता, बल्कि बुराई निकालता है । जैसे पागलखाने का डाक्टर केवल पागलपन ही ठीक करता है, समझदारी तो उसके पास पहले से ही है ।

× × ×

"जल्दी अच्छी नहीं । पानी छानले, गुरु को पहचान ले और आत्मा को जान ले, अगर यह नुक्ते समझ में आजाएँ तो मिथ्या जगत् को मिथ्या मान ले ।

स्मरण—श्रवण और संकीर्तन के पश्चात् स्मरण भी अति आवश्यक है। बिना स्मरण के भगवान् के प्रति सुने गए भाव हृदय में स्थायी रूप से जमते नहीं हैं। यह स्मरण भी दो प्रकार का होता है—नियमित और व्यापक स्मरण। नियमित स्मरण वह है जिसमें साधक प्रतिदिन नियमानुसार भगवान् का स्मरण करता है और व्यापक स्मरण वह है जिसमें भक्त प्रतिपल अपने आराध्यदेव की सर्वव्यापकता आदि गुण के स्मरण में आत्मविभोर रहता है। हर क्षण भगवान् के स्मरण में तल्लीन रहनेवाला व्यक्ति कभी भी दूसरों का अहित नहीं कर सकता है, क्योंकि उसे तो यह भलीप्रकार ज्ञात है कि उसके प्रेमास्पद का निवास-स्थल प्रत्येक जीव है, अतः जीव को कष्ट पहुँचाना परमात्मा को ही कष्ट देने के समान है। इस कारण वह कभी अहितकर कार्य नहीं करता है।

स्मरण की महिमा बतलाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि "जो भक्त अनन्य भाव से सदैव मेरा स्मरण करता है ऐसे योगी के लिए मैं बहुत सुलभ हूँ।"

श्री गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी मानस में स्मरण का महत्त्व बतलाते हुए कहा है—

मोहर के उल्टे दिखलाई देने वाले अक्षर कागज पर लगकर सीधे हो जाते हैं, ऐसे ही गुरु के चरणों में लगी हुई प्रतिकूल भाग्यरेखा भी अनुकूल हो जाती है।

× × ×

ढोल बजाने से बजता है, गुरु भी शिष्य के प्रश्न करने पर ही उत्तर देता है।

"जासु नाम सुमिरत इक बारा।
उतरहिं नर भव–सिंधु अपारा ॥"

अर्थात्—भगवान् का एक बार हृदय से स्मरण करने से जीव संसार-सागर से बिना प्रयास ही तर जाता है। अतः स्मरण भी कलियुग में सिद्धि-दायक है।

पाद-सेवन—वैधी भक्ति का चतुर्थ अंग भगवान् के चरण-कमलों की सेवा करना है। जो साधक अपने आराध्यदेव के चरण-कमलों की सेवा को छोड़कर अन्य कुछ भी कामना नहीं करते, वे ही भगवान् के प्रिय होते हैं तथा उन्हें स्वप्न में भी यमराज अथवा उनके दूतों के दर्शन नहीं होते, अर्थात् वे सब प्रकार से सांसारिक जीवन–मरण के बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं।

भगवान् का अनन्य भक्त भी यही प्रार्थना करता है कि—हे प्रभो! यदि किसी प्रकार मेरा मन रूपी भ्रमर सांसारिक पदार्थों रूपी पुष्पों की आसक्ति को त्यागकर आपके चरण–कमलों का रसास्वादन करने लग जाए तो आप मुझ पर अपनी कृपा-दृष्टि रखना, क्योंकि आपकी कृपा के अभाव में सभी वैभव व्यर्थ हैं।

गुरु गुर (ढंग) बतलाए और शिष्य धारण करे, बस आत्म-साक्षात्कार में पल-भर भी देर नहीं।

× × ×

गुरु और शिष्य के साधनों में भिन्नता होने पर भी लक्ष्य में एकता होती है।

शास्त्रानुसार ईश्वर के दो रूप—सगुण और निर्गुण बतलाए गए हैं। सगुण भगवान् की तो साधक सेवा कर ही सकता है, साथ ही निर्गुण भगवान् की भी सेवा असम्भव नहीं, दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि सगुणोपासक भगवान् की सेवा प्रत्यक्ष रूप से करने में समर्थ है, किन्तु निर्गुणोपासक अप्रत्यक्ष रूप से ईश्वर के चरणारविन्दों की सेवा करता है, यथा वह समस्त जीवों में भगवान् की सत्ता को यथार्थ समझकर उन सबकी सेवा करता है। वस्तुतः समस्त प्राणियों की सेवा ही ईश्वर की सच्ची सेवा है और इसी के द्वारा समस्त संसार में शान्ति का साम्राज्य स्थापित किया जा सकता है तथा क्षुद्र भावनाओं का विनाश होकर परस्पर प्रगाढ़ प्रेम की दृढ़ता स्थापित हो सकती है।

अतः भगवान् के चरण-कमलों की वास्तविक सेवा तो यही है कि साधक समस्त जगत् को भगवान् के ही चरण समझकर उनकी सेवा करे, तभी मानव-जीवन की सफलता सम्भव है अन्यथा नहीं, क्योंकि जितना कुछ भी हमें नेत्रों से दिखाई देता है वह सब एक परमात्मा की सत्ता का ही प्रतीक है।

अर्चन—वैधी भक्ति का पाँचवा अंग अर्चन है। षोडशोपचारों से अपने इष्टदेव का पूजन करना ही अर्चन कहलाता है।

जीवन में चाहे प्राणी कितना ही महान् क्यों न हो जाए, किन्तु ईश्वर, गुरु और वेद के प्रति निष्ठा में कभी भी कमी न आने दे।

× × ×

गुरु का कथन तो सभी अनुकरणीय है, लेकिन सभी कर्म अनुकरणीय नहीं।

यह अर्चन भी दो प्रकार का होता है, आन्तरिक और बाह्य। बाह्य अर्चन उसे कहते हैं जिसमें साधक को भगवान् का पूजन करने के लिए बाहरी उपकरण पत्र, पुष्प, धूप-दीप आदि की आवश्यकता होती है, किन्तु आन्तरिक पूजन वह है जिसमें भक्त भाव-विभोर होकर अपने प्रेमास्पद के ध्यान में बेसुध हो जाता है। इस अवस्था में उसे भगवान् के पूजन के लिए बाहरी उपकरणों का आश्रय नहीं लेना पड़ता है, उसके भाव-पुष्प ही पूजन के लिए पर्याप्त होते हैं।

ऐसी स्थिति को प्राप्त कर भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है—हे प्रभो ! मेरी वाणी निरन्तर आपके मंगलमय गुणों का गान करती रहे, मेरी श्रवणेन्द्रिय आपकी मधुर कथा का रसास्वादन किया करे, सम्पूर्ण संसार को आपका मन्दिर समझकर मेरा मस्तक नित्य-प्रति आपके ही सम्मुख झुका रहे, मेरे हाथ निरन्तर आपके चरण-कमलों की सेवा में निरत रहें और मेरे नेत्र आपके प्रतिबिम्ब-स्वरूप भक्तों के पावन दर्शनों के लिए आतुर रहा करें, अर्थात् मेरा यह सारा शरीर किसी-न-किसी रूप में आपकी ही सेवा में लगा रहे, मेरी यह मनोकामना अवश्य पूरी करें। यदि यह नश्वर मानव-जीवन आपके पूजन-अर्चन में लगाया गया तो इस जीवन का लाभ प्राप्त न हो सकेगा और पशुवत् खाया-पिया और अन्त में नारकीय-यातनाओं को ही भोगेगा; क्योंकि यह पावन जीवन तो भगवान्

रेल के इंजन के साथ लगे हुए सभी डिब्बे गन्तव्य स्थान तक पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार गुरु–मंत्र में लगा हुआ (तल्लीन) जिज्ञासु भी एक दिन लक्ष्य तक पहुँचकर ही रहता है।

के भजन-पूजन के लिए ही मिला है। अतः भगवान् का पूजन एक सच्चे साधक के लिए परमावश्यक है।

वन्दन—वैधी-भक्ति का छठा अंग वन्दन है। मानसिक भाव-पूजन की अभिव्यक्ति करने की ही एक शारीरिक क्रिया वन्दना है, अर्थात् अपने प्रेमास्पद के सम्मुख आत्मविभोर होकर झुकना ही वन्दन कहलाता है। वन्दन में झुकने की क्रिया होती है और जहाँ हम झुकते हैं वहाँ हमारे अभिमान एवं अहंकार की निवृत्ति हो जाती है। अहंकार ही मानव-जीवन में विनाश का मूल है और उस दयालु की दयार्द्रता का एक नियम है कि जब कभी भी और जिस किसी पर भी भगवान् द्रवित होते हैं तो एकमात्र भक्त के झुकने से ही प्रभावित होकर, क्योंकि झुकना दीनता का प्रदर्शन करना है और भगवान् दीनबन्धु हैं, अर्थात् जब भक्त अपने को भगवान् के सम्मुख दीन बना लेता है, तभी उस पर उसकी महती कृपा हो जाती है। सभी धर्मावलम्बियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से वन्दन की क्रियाओं का विवेचन किया है, किन्तु एक साधारण गुण जोकि प्रायः सभी धर्मों के अन्तर्गत वन्दन-क्रिया में पाया जाता है वह है—अहंकार-हीन-वन्दन क्रिया। क्योंकि जैसाकि हम पहले ही देख चुके हैं कि अहंकार विनाश का मूल है, अहंकार आ जाने के कारण ही भगवान् श्रीकृष्ण रासलीला के मध्य गोपियों को विलखता छोड़कर अन्तर्धान हो गए थे। तात्पर्य यह है कि भगवान् अपने भक्त के अहंकार को कभी भी सहन नहीं कर पाते, क्योंकि इससे वह पतन की ओर उन्मुख होता है, जैसाकि

बुराई गिरा देती है, माया (प्रकृति) पकड़ती है और गुरु शब्द जगा देता है।

रामचरितमानस के अनुसार जब भगवान् ने देखा कि उनके परम भक्त नारद के हृदय में ज्ञान और वैराग्य के कारण अहंकार का अंकुर जम गया है, तो भगवान् ने विचारा कि—

"उर अंकुरेउ गरब तरु भारी।
बेगि सो मैं डारिहउँ उखारी॥"

क्योंकि—

"पन हमार सेवक हितकारी।"

अर्थात्—भगवान् अपने भक्त के हित का विशेष ध्यान रखते हैं, इसी कारण उन्होंने नारदमुनि को सान्त्वना देते हुए कहा—

"जेहि विधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार।
सोइ हम करब न आन कछु वचन न मृषा हमार॥"

"हे नारद! जिस प्रकार आपका कल्याण होगा, हम वही करेंगे; दूसरा कुछ नहीं, हमारे वचन कभी असत्य नहीं होते।"

इसी कारण भगवान् ने नारद को ऐसा रूप दिया कि मायामयी राजकुमारी ने उनकी ओर नेत्र उठाकर भी न देखा।

अर्जीनवीस दिन में सैकड़ों अर्जियाँ लिखता है, किन्तु उसके ऊपर एक भी मुकदमा नहीं, क्योंकि वह दस्तखत नहीं करता। इसी प्रकार गुरु भी जगत् के कार्यों से शिष्य को नहीं रोकता बल्कि कर्त्तापन का अभिमान (जो मैंने किया) जो उसे नहीं लगने देता। क्योंकि जगत् के कर्म बन्धन में नहीं डालते बल्कि अहम्भाव ही बन्धन का मूल है।

उन्हें तो अपने भक्त की सब प्रकार से रक्षा करनी है, क्योंकि उसने तो अपने को दीन बनाकर भगवान् के समर्पित जो कर दिया है।

वन्दन (प्रणाम) भी आठ अङ्गों से किया जाता है तभी उसे सम्पूर्ण माना जाता है, यथा—भुजा, चरण, जानु, वक्षः स्थल, शीश, नेत्र, मन और वाणी से किया हुआ प्रणाम ही सर्वांगीण माना जाता है, जिसमें मानवमन और शरीर दोनों ही प्रकार से अपने को श्रीचरणों में झुका देता है। अतः साष्टाङ्ग दण्डवत प्रणाम ही ज्ञान का एकमात्र साधन है। भगवान् के प्रति अनन्यभाव रखकर प्रणाम करनेवाला व्यक्ति तो केवल वन्दन मात्र से ही इस संसार के जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्ति प्राप्त कर सुरलोकगामी होता है। इस प्रकार वन्दन को वैधीभक्ति का एक विशेष अङ्ग माना है।

दास्यभाव—वैधीभक्ति का सातवाँ अङ्ग दास्यभाव है। दास्यभाव की स्थिति में प्रवेश करके भगवान् के ऐश्वर्य, सर्वज्ञता, अनन्तता, भक्तवत्सलता, शरणागतबत्सलता, सर्व-शक्तिमत्ता आदि गुणों का स्मरण करता हुआ, प्रभु को अपना स्वामी तथा अपने को सेवक मानकर मन-वचन और कर्म से अपने को पूर्ण रूप से उनके श्रीचरणों में समर्पित कर देता है और अपने प्रति स्वार्थ की गन्ध भी नहीं रहती, वही भगवान् का वास्तविक अर्थ में दास है। जिसकी प्रत्येक रुचि अपने इष्टदेव

जिसने अपना रास्ता ढूँढ़ने का निश्चय कर लिया है, उसे सदैव अनेक अवसर मिल जाएँगे, नहीं भी मिलेंगे तो वह उन्हें बना लेगा।

की रुचि के अनुकूल हो। जैसाकि श्री हनुमानजी की दास्यभावना इसका प्रमाण है कि—

"राम काज कीन्हे बिना मोहि कहाँ विश्राम।"

हनूमानजी भगवान् राम के अनन्य सेवक थे। इसी कारण उन्होंने अपने स्वामी के कार्य की पूर्णता के अभाव में विश्राम की कभी कल्पना तक न की, क्योंकि सच्चा सेवक तो वही है जो कि एकरस होकर अपने स्वामी की सेवा में रत रहता है, जैसाकि गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी मानस में लिखा है—

"सेवक कर पद नयन से मुख सों साहिबु होइ।
तुलसी प्रीति की रीति सुनि सुकवि सराहहिं सोइ॥"

अर्थात् सेवक को हाथ, पैर और नेत्रों के समान तथा स्वामी को मुख के समान होना चाहिए। सेवक और स्वामी की इस प्रकार की प्रीति की रीति सुनकर श्रेष्ठ कवि उनकी सराहना करते हैं। दास्य-भाव से भक्ति करने वाला भक्त सुख-दुख, सम्पत्ति-विपत्ति आदि को अपने आराध्यदेव की कृपा समझकर सदैव एकरस ही रहता है, क्योंकि उसने अपनी इच्छा को अपने स्वामी की इच्छा में मिला दिया है।

दास्यभाव से भक्ति करने वाला भक्त सदा भगवान् का गुण-गान सुनकर पग-पग पर उसकी दयामयी लीला का ही अनुभव करता है और अपने को सदा कृतार्थ मानता है। भगवान् भी ऐसे ही भक्त के वशीभूत होकर विभिन्न प्रकार से

मौत की मुहर जिन्दगी के सिक्कों को कीमत बख्शती है, ताकि हम जिन्दगी से वह खरीद सकें जो कि सचमुच कीमती है।

नाचा करते हैं, जैसाकि गोस्वामी तुलसीदास जी ने हनूमान जी की भक्ति-भावना के वशीभूत हुए श्रीराम की अवस्था का वर्णन बहुत सुन्दर ढंग से किया है—

"सुनु कपि तोहि समान उपकारी ।
नहिं कोउ सुर नर मुनि तनु धारी ॥
प्रत्युपकार करौं का तोरा ।
सम्मुख मन होइ सकत न मोरा ॥"

भगवान् सदा अपने सेवकों को ही आदर देते हैं और दास्यभक्ति से ज्ञान की भी उत्पत्ति होती है। भरतजी श्रीराम के लघु भ्राता थे, किन्तु राम के प्रति उनकी भक्ति दास्य-भाव की थी, जिसका आदर्श हमें रामायण में देखने को मिलता है। सच्चा सेवक तो वही है जो अपने स्वामी की इच्छा में ही अपनी इच्छा को मिला दे, यदि भक्त की रुचि भगवान् की रुचि के प्रतिकूल है, तो वह भक्त नहीं कहला सकता। जब श्रीराम चौदह वर्ष का बनवास लेकर चले गए और भरत को ननसाल से लौटने पर सारी स्थिति का ज्ञान हुआ तो वह व्याकुल हो उठे अपने स्वामी के दर्शनों के लिए और अयोध्या-वासियों के साथ भगवान् राम को मनाकर अयोध्या लौटा लाने के लिए वन को चल दिए। जब श्रीराम के पास पहुँचे तो बहुत प्रकार से उनसे अयोध्या लौट जाने के लिए अनुनय-विनय की, किन्तु जब श्रीराम ने कहा—

"सो तुम्ह करहु करावहु मोहू ।
तात तरनिकुल पालक होहू ॥"

जो ज्यादा काबू पाते हैं या ज्यादा काम करते हैं, वे कम से कम बोलते हैं। दोनों साथ मिलते ही नहीं। देखो कुदरत सबसे ज्यादा काम करती है, सोती नहीं लेकिन मूक है।

तो भरत जी ने अपने स्वामी की इच्छा को समझकर अपना निर्णय बदल दिया तथा जीवन के आश्रय स्वरूप भगवान् की चरण-पादुका लेकर अयोध्या लौट आए और चौदह वर्षों तक अपने स्वामी की एकरस होकर अनन्यभाव से भक्ति में रत रहे !

अतः भक्ति में दास्य-भाव की ही विशेष आवश्यकता है। भगवान् अपने निष्कामी प्रेमी के लिए कहते हैं—

"प्रेमी का मैं ऋणी हूँ यही हमारा असूल।
चार पदार्थ ब्याज में बाकी रहा मूल का मूल॥"

सख्यभाव—वैधी भक्ति का आठवाँ अंग सख्यभाव है जिसमें भक्त भगवान् को सखा के रूप में मानता है। सख्यभाव दास्यभाव से कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि दास्यभाव में सेवक सदा स्वामी से भयभीत रहता है, किन्तु सखाभाव में भक्त और भगवान् की अभिन्नता की स्थिति आ जाती है, जिससे कि भक्त को भगवान् से भय नहीं लगता है। इस प्रकार की भक्ति में धीरे-धीरे भक्त के हृदय से समस्त कामनाओं का अन्त हो जाता है और उसे विशेष रस की अनुभूति होती है, जिसको साधारण बुद्धि वाले समझ नहीं सकते हैं। अर्जुन, सुदामा, उद्धव, सुग्रीव आदि अनेकों भक्तों के सख्यभाव की भक्ति के ज्वलन्त उदाहरण हैं जो कि हमारे सम्मुख भगवान् के प्रति अभिन्नता की स्थिति को स्पष्ट कर देते हैं।

आत्म-विश्वास की कमी ही हमारी बहुत-सी असफलताओं का कारण होती है। शक्ति के विश्वास में ही शक्ति है। वे सबसे निर्बल हैं, चाहे वे कितने ही शक्तिशाली क्यों न हों, जिन्हें अपने आप तथा अपनी शक्तियों पर विश्वास नहीं है।

श्रीकृष्ण और सुदामा की मित्रता तो जगत्-प्रसिद्ध है। सुदामा अत्यन्त दरिद्री थे, जिससे व्याकुल होकर उनकी पत्नी ने उनसे श्रीकृष्ण के पास जाने का बहुत आग्रह किया, कहा कि श्रीकृष्णजी तो तुम्हारे मित्र हैं, फिर तुम दरिद्रता के इस महान् कष्ट को क्यों भोगते हो ? बिचारे सुदामाजी पत्नी द्वारा विवश किए जाने पर हृदय में बहुत संकोच करते हुए अपने मित्र श्रीकृष्ण से मिलने के लिए चल दिए और साथ में भगवान् की भेंट के लिए थोड़े से तण्डुल (चावल) ले चले।

जब सुदामा द्वारिकापुरी पहुँचे तो वहाँ का वैभव देखकर आश्चर्यचकित हो गए, फिर किसी प्रकार अपने को सँभालकर द्वारपाल को अपना नाम बतलाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण को सूचित करने को कहा। द्वारपाल पहले तो झिझका, किन्तु जब सुदामाजी ने कृष्ण की मित्रता का परिचय दिया तो उसने महल में जाकर भगवान् को सूचना दी कि एक बहुत दीन-हीन ब्राह्मण बाहर खड़ा है और अपना नाम सुदामा बताता है।

द्वारपाल के मुख से सुदामा का नाम सुनते ही भगवान् श्रीकृष्ण उससे मिलने को अधीर हो उठे, अपना सिंहासन छोड़कर दौड़े आए और सुदामा को गले से लगा लिया तथा उन्हें महल में लाकर रत्नजटित सिंहासन पर आसीन कर एवं उनकी दुर्दशा को देखकर कह उठे :—

एक कर्त्तव्य को पूरा कर देने का पुरस्कार दूसरे को कर सकने की शक्तियाँ प्राप्त कर लेना है।

"हाय सखा ! तुम पायो महादुःख,
आए इतै न कितै दिन खोए।
देखि सुदामा की दीन दशा,
करुणा करके करुणानिधि रोए।
पानी परात को हाथ छुओ नहिं,
नयनन के जल सों पग धोए।"

वाह रे ! शरणागतवत्सल, मित्रवत्सल प्रभु ! तुम अपने भक्त की दुर्दशा देखकर रो उठे और शरण में आते ही उसका सारा कष्ट क्षण भर में दूर कर दिया तथा मित्रता का आदर्श प्रस्तुत किया, क्योंकि—

"जे न मित्र-दुख होंहि दुखारी।
तिनहिं विलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज कर जाना।
मित्रक दुख रज मेरु समाना॥"

अर्थात् जो मित्र की विपत्ति को अपनी ही विपत्ति नहीं मानते, वे मित्रता नहीं करते; अपितु केवल धोखा है, क्योंकि सच्ची मित्रता तो वह है जिसमें मित्र के तनिक दुःख को भी बहुत मानना चाहिए और अपने अधिक दुःख को थोड़ा समझना चाहिए।

अस्तु, भगवान् श्रीकृष्ण ने सुदामा से पूछा कि सखा तुम मेरे लिए क्या लाए हो ? सुदामाजी संकोचवश उन चावलों को

मृत्यु से बढ़कर जीवित रहना आश्चर्यजनक है, जोकि इस मिट्टी के पुतले को लेकर चलने-फिरने वाला..............कौन, कैसा और कबतक है ?

पोटली को छिपाने लगे तो भगवान् ने हठात् उनकी काँख से पोटली छीनली और बड़े प्रेम से कच्चे चावल ही खाने लगे, क्योंकि भगवान् तो—

"भाव के भूखे हैं भगवान्,
भाव नहीं सच्चा जो मन में,
तो सब व्यर्थ विधान।
भाव के भूखे हैं भगवान् ॥"

जब भगवान् ने दो मुट्ठी चावल खा लिए और तीसरी भी खाने लगे तो समीप बैठी हुई रुक्मणीजी ने उनका हाथ पकड़ लिया और कहा—"दो मुट्ठी चावल खाकर तो तुमने इस गरीब ब्राह्मण को दो लोक का अधिकारी बना दिया, अब क्या तीसरा लोक भी इसे दे देने का विचार कर लिया है, फिर स्वयं रहने का कहाँ ठिकाना है ?"

भगवान् ने कहा—

"भामिनि मोहि जिमाय भली विधि,
कौन रह्यो जग में नर रंका।
लोग कहें हरि मित्र दुखी,
हमसे न सह्यो यह जात कलंका ॥"

अर्थात्—हे प्रिये ! इस संसार में जीव मेरा कहलाकर दुखी रहे यह कलंक मुझसे नहीं सहन हो सकता, क्योंकि मेरा तो प्रण ही यह है कि शरणागत सब प्रकार सुखी कर

भगवान् के ऊपर अटल विश्वास ही सुख का मूल कारण है।

अभय पद प्रदान करदूँ । लेकिन भगवान् ने सुदामा को चलते समय कुछ दिया नहीं, यद्यपि सब भाँति उसकी दरिद्रता को नष्ट कर दिया था।

सुदामा विदा होकर घर लौटने लगे तो भगवान् की प्रीति का स्मरण करते हुए पूर्ण रूप से सन्तुष्ट हो चले आए और उनके द्वारा दिए गए सम्मान की ही सराहना मन में करते रहे, क्योंकि वास्तविक भक्त तो वही है जो भगवान् की दी हुई प्रत्येक स्थिति में सम रहकर प्रसन्नता का अनुभव करता है—

"राज़ी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रज़ा है।
यहाँ यूँ भी वाह-वाह है और वूँ भी वाह-वाह है ।।"

भगवान् तो प्रेम के भूखे हैं, इसीलिए तो वह अपने भक्तों से किसी भी प्रकार अपने को भिन्न नहीं मानते हैं, और—

"जिनके चरणों को सलिल,
हरत सकल सन्ताप।
पाँय सुदामा विप्र के,
धोवत सो हरि आप ।।"

ऐसे भक्तवत्सल भगवान् की उदारता के अनेकों प्रत्यक्ष उदाहरण हैं! विदुर के यहाँ भावना से युक्त केले के छिलकों को

गुरु अपने शिष्य के साथ-साथ यात्रा कर रहे थे, रास्ते में सड़े हुए कुत्ते को देखकर शिष्य ने पूछा—"गुरुजी ! यह कुत्ता पूर्वजन्म में कोई महान् पातकी होगा।" गुरु ने हँसकर कहा—"नहीं बेटा ! यह कोई पुण्यात्मा होगा, जो तीर्थ के मार्ग पर पड़ा है और इसके सुन्दर दाँत अभी तक खूब चमक रहे हैं।"

संत तो जगत् की Bright side ही देखते हैं।

भी भगवान् ने बड़े प्रेम से खाया तथा शबरी के झूठे बेरों की भी भगवान् ने प्रशंसा की और रुचि के साथ खाये—

"कंद मूल फल सुरस अति दिये राम कहुँ आनि ।
प्रेम सहित प्रभु खाये बारम्बार बखानि ॥"

भगवान् तो बस एक भक्ति का ही नाता मानते हैं, इसीलिए चाहे कोई जाति हो, चाहे किसी भी प्रकार साधना हो, परन्तु उन सबमें भगवान् की शरणागति की भावना अवश्य होनी चाहिये, तभी भगवान् द्रवित हो जाते हैं जैसाकि उन्होंने शबरी से कहा भी है।

"कह रघुपति सुनु भामिनि बाता,
मानउँ एक भगति कर नाता।"

तात्पर्य यह है कि भक्त को किसी भी दशा में निराश न होना चाहिए और सभी में भगवान् की कृपा का ही अनुभव करना चाहिए वही सच्चा भक्त है। इस कलियुग में संसार-सागर को पार करने के लिए जप, तप, अनुष्ठान, समाधि आदि कोई भी साधन नहीं है, बस एक ही उपाय श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन को बतलाते हुए कहा है—

"जो भक्त अपनी जीवन-नौका को पार लगाना चाहता है, इस शरीर रूपी नैया को मेरे अर्पित कर देना चाहिये।

भावना करो भगवान् ही मेरी माँ, भगवान् ही मेरे पिता, प्रभु ही मेरे मित्र, जो भी कुछ हैं हर प्रकार से मेरे सर्वस्व वो ही हैं। तुम्हारा प्रेम निश्चय ही प्रियतम भगवान् में हो जाएगा।

अर्थात् निष्काम भावना से संसार के कार्य करते हुए, अपना ध्यान मेरी उपासना में लगा देते हैं, वे निश्चय ही संसार-सागर को पार कर जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।"

ऐसे भक्तों की समस्त कामनाओं की सिद्धि भी हो जाती है और उसे भगवान् से कुछ मांगने की आवश्यकता ही नहीं होती। भक्त तो केवल भरत की तरह भगवान् के चरणारबिन्दों में अनन्य रति की ही अभिलाषा करता है—

"अर्थ न धर्म न काम रुचि,
गति न चहौं निर्बान।
जन्म-जन्म रति राम पद,
यह बरदान न आन॥"

इस प्रकार सख्यभाव ही वैधी भक्ति का सुमधुर अङ्ग है।

आत्मनिवेदन—वैधी भक्ति का पाँचवाँ अङ्ग आत्मनिवेदन है, जिसमें भक्त अपने को तन-मन से भगवान् के समक्ष पूर्ण-रूप से समर्पित कर देता है। आत्मनिवेदन ही भक्ति की पराकाष्ठा है। जब भक्त साधक के रूप में भगवान् से अनन्य अनुराग करने लगता है, अनुराग से ममता उत्पन्न हो जाती है और ममता जिस पर केन्द्रित हो जाती है, उसके लिए सर्वस्व निछावर किया जा सकता है। अतः इस अवस्था में आकर भक्त

क्या तुम्हारा जिससे प्रेम है, यदि उसकी अनुकूलता ही तुम्हारा जीवन है, तो तुम्हारा प्रेम अमर और उज्ज्वल होगा। यदि तुम्हें उसकी अनुकूलता अपनी प्रतिकूलता लगती है तो उस प्रेम का आज अन्तिम सोपान ही था।

भगवान् के लिए अपना सर्वस्व निछावर करने में तनिक भी संकोच नहीं करता। यथा गोपियों ने अपना सर्वस्व श्रीकृष्ण के चरणारबिन्दों में समर्पित कर दिया था, इसीलिए तो जब उद्धव ब्रज से लौटे तो उन्होंने श्रीकृष्ण को गोपियों की दशा बतलाई कि वे आपके बियोग से अत्यन्त व्याकुल हो रही हैं और मृतवत् हो गई हैं, फिर भी उनके प्राण निकलते नहीं, तो श्रीकृष्ण ने कहा कि गोपियों ने अपना सर्वस्व मुझे समर्पित कर दिया है, इसीलिए यमराज उनके प्राणों को ले जाने में असमर्थ है क्योंकि उनके प्राण तो मेरे अर्पण हैं।

तात्पर्य यह है कि जिसने अपने को भगवान् के समर्पित कर दिया है, वास्तव में वही परमभक्त कहलाता है। आत्मनिवेदन की स्थिति में पहुंचकर ही राजा बलि ने भगवान् को प्रेम के धागे में बाँध लिया था। इस अलौकिक प्रेम की अवस्था में भक्त और भगवान् के बीच की भित्ति टूट जाती है और भक्त की भगवान् के साथ अभिन्नता उत्पन्न हो जाती है—

"लाली मेरे लाल की जित देखों तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी है गई लाल॥"

बड़ों के साथ बड़प्पन स्वाभाविक है। डाक्टर की पत्नी चाहे निरक्षर ही क्यों न हो, किन्तु डाक्टरनी कहलाएगी, वकील की धर्मपत्नी वकीलन और सेठ की धर्मपत्नी चाहे निर्धन ही क्यों न रही हो, लेकिन जब से सेठ से सम्बन्ध हुआ, तब से वह सेठानी ही है। अगर इसी प्रकार कहीं भगवान् से सम्बन्ध हो जाए तो यह जीव पता नहीं कितना महान् हो जायेगा।

जैसे गोपियों ने लोक-लाज को छोड़कर सर्वस्व भगवान् को समर्पित कर दिया था तो उन्हें प्रत्येक वस्तु में भगवान् कृष्ण ही दिखाई देते थे। यह पुण्यमयी अवस्था भाग्यशाली मानवों को ही प्राप्त होती है, इस दशा में भक्त भगवान् का चिन्तन कर कभी रोता है, कभी हँसता है, कभी नाचता है, कभी गाता है आदि अनेक अवस्थाओं में वह भगवान् का साक्षात्कार करता है और आनन्द विभोर हो, बेसुध हो जाता है।

अतः मानव-जीवन प्राप्त कर यदि जीव ने इस आत्म-निवेदन की स्थिति को प्राप्त न किया तो वह पशुवत ही जीवन बिताकर बारम्बार जन्म-मरण के झूले में झूला करता है। इस प्रकार भक्ति के इन नौ अङ्गों में से किसी एक में भी यदि भक्त की निष्ठा प्रबल हो जाती है, तो भगवान् उसका कल्याण अवश्य कर देते हैं जैसा कि श्रीरामचरितमानस में भगवान् परमभक्ता भीलनी से कहते हैं—

"नव मंह जिन्हके एकौ होई।
नारि पुरुष सचराचर कोई ।।
सो अतिसय प्रिय भामिनि मोरे।
सकल प्रकार भक्ति दृढ़ तोरे ।।"

अस्तु, यही नवधा भक्ति है, जिससे साधकों के हृदय में भगवान् के चरणारविन्दों में अनन्य रति हो जाती है।

× × ×

आप जिस कार्य को कर रहे हैं, क्या वह भगवान् से अधिक महत्त्वदायक है, अगर नहीं तो प्रत्येक कार्य के साथ प्रभु-स्मृति अवश्य हो।

आत्मज्ञान

जब तक मानव अपने आप में स्थित परमपिता परमात्मा को पहिचान नहीं लेता, तब तक संसार के साथ सम्बन्ध-विच्छेद असम्भव है और जब तक संसार के साथ सम्बन्ध बना रहता है तब तक सांसारिक मोहजन्य दुःख से छुटकारा पाना नितान्त दुर्लभ है, क्योंकि मोह का घनिष्ठ सम्बन्ध दुःख के साथ है। जैसाकि गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी मानस में लिखा है—

"मोह सकल व्याधिन कर मूला।
तेहि ते पुनि उपजहिं बहु सूला।।"

कहने का तात्पर्य यह है कि इस संसार में एकमात्र मोह ही समस्त दुःखों का मूल कारण है और इस मोह से एक साधक को तभी छुटकारा मिल सकता है। जब कि वह अपनी आत्मा में स्थित परमात्मा को पहिचान लेता है तब उसे शोक मोहादि व्याधियाँ स्पर्श तक नहीं कर सकती हैं, क्योंकि उसे उस दिव्य ज्योति का प्रकाश मिल गया है, जिससे संसारजन्य अन्धकार का नाश हो गया है और वह अब संसार में रहकर भी संसार से उसी प्रकार भिन्न है जैसे जल से उत्पन्न होनेवाला जलज जल से दूर है।

उपर्युक्त कथित अवस्था में आकर साधक को सारा संसार ईश्वर की सत्ता से युक्त भासता है, उसे प्रत्येक जड़-चेतन में

कृपण व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का न तो स्वयं उपभोग करता है और न किसी को दानस्वरूप ही देता है अपितु उसका स्पर्श मात्र करके ही आनन्दित होता है, जिस प्रकार नपुंसक अपनी स्त्री को न किसी को दे सकता है और न उसका उपभोग ही कर सकता है।

परमात्मा ही दृष्टिगत होते हैं, फिर वह किससे द्वेष और किससे प्रेम करे, उसका प्रेमास्पद तो कण-कण में व्याप्त है, जिस प्रकार अनेकों शीशों के टुकड़ों में यदि कोई व्यक्ति एक साथ देखे तो उसे अपना-आप ही प्रत्येक टुकड़े में दिखाई देता है फिर किसे अपना और किसे पराया कहे, वह तो एक होकर ही अनेकों में लक्षित होता है, ठीक इसी प्रकार सभी जगह मेरी (आत्मा का) मैं (परमात्मा) का ही विस्तार दिखाई देता है। उसी की शक्ति से सारे संसार का कार्य चल रहा है और वह मेरी मैं ही मैं (परमात्मा) है । यथा—

"तन मैं एजाँ तू छिपा था। मुझे मालूम न था ।।
मन में परदा सा बना था। मुझे मालूम न था ।।
मैंने तुझे ढूँढा किताबों में और कुरां में ए अबस् ।।
लोहे दिल में तेरा खत था। मुझे मालूम न था ।।

कहने को मैं तुझे ढूँढता फिरता था ।।
मगर तू मुझे ढूँढता फिरता था ।।
मुझे मालूम न था ।।
मैं बन्दा था या खुदा था ।
मुझे मालूम न था ।।
हर दो इल्लत से जुदा था ।
मुझे मालूम न था ।।

धर्म ही मनुष्य का एक ऐसा साथी है जो मरने के उपरान्त भी साथ देता है और तो संसार के समस्त पदार्थ नश्वर हैं वे कभी-कभी जीवित रहते हुए भी साथ छोड़कर चल देते हैं। अतएव केवल धर्म ही सच्चा साथी है ।

मैं आप ही आप हूँ तालिबो।
मतलूब है कौन ॥
मैं अपने आप पर ही आशिक था।
मुझे मालूम न था ॥"

तात्पर्य यह है कि साधक साध्य को अपने आप में ही पाकर आनन्द-विभोर हो उठता है और प्रसन्नता से झूमकर कहने लगता है कि हे परमात्मा ! तू मेरे शरीर में ही स्थित था, मुझे इसका तनिक भी ज्ञान न था, कारण कि मन पर भ्रम रूपी परदा पड़ जाने के कारण मैंने तुझे अपने से भिन्न समझ लिया था, इसीलिए किताबों में, कुरानों में तुझे खोजता फिरता था, किन्तु आत्मज्ञान हो जाने पर मुझे तेरी स्थिति का सही ज्ञान हो गया कि तू तो मेरे हृदय में ही निवास करता है। मैं भ्रमवश ही तुझे मन्दिर–मसजिद में ढूँढ़ता फिरता था, लेकिन यह आभास तक न था कि तू भी मुझे अपना बना लेने को आतुर है, अर्थात् आत्मज्ञान होते ही आत्मा का परमात्मा से सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने बतलाया है कि पापरहित योगी निरन्तर आत्मा को परमात्मा के चिन्तन में लगाता हुआ सुखपूर्वक पारब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति रूप आनन्द का अनुभव करता रहता है, और भी—

धर्म से विमुख रहने वाला व्यक्ति धनी होने पर भी निर्धन है, बलवान होने पर भी निर्बल है और शास्त्र का ज्ञाता होने पर भी महान् मूर्ख ही है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।।
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को आत्मज्ञान के विषय में बतलाते हुए कहते हैं—

हे अर्जुन ! सबमें व्याप्त अनन्त चेतन में एकीभाव से स्थितिरूप योग से युक्त हुए आत्मावाला तथा सबको समता की भावना से देखनेवाला योगी आत्मा को समस्त प्राणियों में इस प्रकार देखता है जिस प्रकार कि समस्त बर्फ में जल निहित होता है, क्योंकि जल बर्फ से भिन्न नहीं है । ठीक इसी प्रकार से आत्मज्ञानी इस संसार को स्वप्न से जागृत व्यक्ति की तरह संकल्प के आधार पर देखता है, अर्थात् वह सम्पूर्ण जीवों को अनन्त चेतन आत्मा के अन्तर्गत देखता है । उसके दृष्टिकोण में परमात्मा का अंश आत्मा सर्वव्यापी है यद्यपि वह विभिन्न प्रकार से संसार में दृष्टिगत होती है, फिर भी है एक ही अंशी का अंश और जो मनुष्य आत्मरूप मुझको समस्त प्राणियों में स्थित देखता है उसके लिए मैं उससे भिन्न नहीं और नहीं वह मेरे से अलग है ।

विधाता अनहोनी को होनेवाली और होनेवाली बात को बिगाड़ने की शक्ति रखता है । जिस बात को मनुष्य चाहता है वह बिगड़ सकती है और जिसे नहीं चाहता वह घटित हो जाती है ।

'अपने मन कछु और है विधना के कछु और ।'

इस प्रकार जो व्यक्ति मुझे समस्त प्राणियों में विद्यमान समझकर एकीभाव से मेरी उपासना करता है वह योगी समस्त कार्यों को करता हुआ भी मेरा ही जाप करता है अथवा मेरे लिए ही करता है, क्योंकि उसके अनुभव में मेरे अतिरिक्त कोई है ही नहीं। इस प्रकार—

"आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽअर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥"

हे अर्जुन! जो साधक संसार के सभी प्राणियों को अपने समान ही समझता है और दुःख या सुख में समभाव से रहता है, अर्थात् जो दुःखद स्थिति में दुःख का और सुखद स्थिति में सुख का अनुभव न करके दोनों परिस्थितियों को भगवान् की देन मानकर सहर्ष स्वीकार करता है, वही श्रेष्ठ योगी है, जिसने आत्मज्ञान प्राप्तकर आत्मा-परमात्मा के रहस्य को समझ लिया है।

इसी प्रकार का आत्मज्ञानी संसार में रहकर समस्त कर्मों को करता हुआ भी संसार से भिन्न है।

परमपिता परमात्मा की शरण आनेवाला भक्त कभी संसार-सागर में डूबता नहीं है, अपितु उसका उद्धार निश्चित रूप से हो जाता है।

त्यागी की विशेषता

जिस साधक ने आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया है, वह संसार में रहकर भी संसार से भिन्न है, उसी को वास्तव में त्यागी अथवा ज्ञानी कहा जा सकता है। संसार को प्रत्येक वस्तु के साथ रहता हुआ और उनका भोग करता हुआ भी वह उनमें लिप्त नहीं है, उसे सांसारिक पदार्थों की नश्वरता और आत्मा की अनश्वरता का भलीभाँति ज्ञान हो गया है, वह उन सभी सुखकर पदार्थों से मोह नहीं करता, क्योंकि उसे पता है कि मोह ही समस्त दुःखों का एकमात्र कारण है। इसीलिए इस प्रकार के त्यागी व्यक्ति को ही ज्ञानी की संज्ञा दी जा सकती है जोकि यह भावना लेकर संसार में रहे कि—

"दुनियाँ में हूँ, दुनिया का तलबगार नहीं हूँ।
बाजार से गुजरा हूँ, खरीदार नहीं हूँ॥"

एक ज्ञानी और अज्ञानी का मुख्य अन्तर यही है कि ज्ञानी नश्वर पदार्थों को स्वतः त्यागने की क्षमता रखता है किन्तु एक अज्ञानी को नश्वर पदार्थ स्वतः त्याग जाते हैं, वह तो उन्हें किसी भी अवस्था में त्यागने को तैयार नहीं, क्योंकि उसे तो उनके त्यागने मात्र के विचार से ही अपार दुःख की अनुभूति होती है।

एकबार कोई ज्ञानी महात्मा तथा एक धनिक व्यक्ति रेलगाड़ी की प्रथम श्रेणी में यात्रा कर रहे थे। दोनों के ही पास

संसार केवल एक रंग-मंच मात्र है जिस पर आकर जीव विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ किया करता है, यह प्रेम करने के लिए नहीं है, प्रेम तो बस परमात्मा से ही करना चाहिए, वही प्रेम सुख का दाता है, संसार के प्रति किया गया प्रेम तो दुःख का ही कारण है।

पर्याप्त सुख की सामग्रियाँ, नौकर-चाकर थे। धनिक को त्यागी महात्मा के साथ सुख के इतने प्रसाधन देखकर महान् आश्चर्य हुआ। उसने सोचा यह कैसे त्यागी हैं जिन्होंने इतना सब कुछ वैभव तो अपने से भिन्न नहीं किया है, क्या वस्त्र रंग लेना मात्र ही त्याग का प्रतीक है? आखिर उस धनिक से चुप न रहा गया, और महात्मा से प्रश्न कर ही बैठा, बोला— महाराज मुझमें और आप में क्या अन्तर एवं विशेषता है? मेरे और आपके सांसारिक वैभव में तो कोई अन्तर दिखाई नहीं देता, जितना सामान एवं सेवक मेरे पास हैं, उतना सब कुछ ही आपके पास है, फिर भी आप त्यागी और हम भोगी क्यों कहलाते हैं?

महात्मा ने कहा-प्रत्यक्ष को प्रमाण क्या? थोड़ी ही देर में गाड़ी अचानक रुक गई। महात्मा ने धनिक से कहा आओ नीचे उतर कर देखें कि गाड़ी क्यों रुक गई है?

धनिक घबड़ा रहा था क्योंकि उसे अपने सामान से विशेष मोह था, कहने लगा; यहाँ नीचे उतरना ठीक नहीं है महाराज, हो सकता है चोरों ने गाड़ी लूटने के लिए ही रुकवाई हो, मैं तो किसी भी हालत में अपना सामान छोड़कर नहीं जा सकता।

महात्मा ने धनिक से बहुत कहा पर वह किसी भी हालत में चलने को तैयार न हुआ तो उन्होंने कहा—बस यही अन्तर

किसी के प्रति स्नेह न करना उचित है, किन्तु स्नेह करके तोड़ देना अनुचित है, जिस प्रकार जन्म से, अन्धे होने पर नेत्रों की पीड़ा का अनुभव नहीं होता, किन्तु बाद में नेत्रहीन होजाना दुःख का कारण है।

मुझमें और तुममें है। तुम इन नश्वर पदार्थों को सत्य समझ कर छोड़ने की कल्पना तक नहीं कर सकते फिर छोड़ना तो बहुत दूर की बात रही और हम इन्हें नश्वर एवं मिथ्या समझकर प्रत्येक पल छोड़ने को तैयार हैं, बस यही हम त्यागियों की विशेषता है। तुमने मोहवश इन्हें अपना समझ लिया है, किन्तु हमें इनकी वास्तविकता का ज्ञान हो गया है इसलिए इन्हें पराया समझते हैं, इसी कारण इनसे हमारा मोह नहीं हो सकता। हमारी संसार में आसक्ति नहीं है, इसलिए निरन्तर कर्म करते हुए भी हम परमात्मा के चिन्तन में रत रहते हैं और तुम परमात्मा का चिन्तन करते हुए भी नश्वर पदार्थों में आसक्त रहते हो।

यह सुनकर धनिक के नेत्र खुल गए और उसका भ्रम मिट गया, कहने लगा—महाराज आप वास्तव में त्यागी ही हैं यही कारण है कि हम जिन सांसारिक प्रसाधनों के लिए व्याकुल हो उनकी प्राप्ति के ध्यान में रत रहते हैं, वे प्रसाधन स्वयं आपकी सेवा करने के लिए आतुर हो छाया की तरह आपके पीछे-पीछे दौड़ रहे हैं।

वह बल ही क्या, जिससे निर्बलों को सहायता न मिले ? वह धन ही क्या, जो याचक की इच्छा पूरी न कर सके ? वह क्रिया ही क्या जिससे किसी का हित-साधन न हो सके ? वह मानव-जीवन ही क्या, जो साधु-सज्जनों का विरोधी हो ?

लक्ष्य-परिवर्तन

मानव संसार में आकर अपने वास्तविक लक्ष्य को भुला बैठता है और यहाँ इस प्रकार मोह के बन्धन में उलझ जाता है कि संसार की प्राप्ति को ही मानव जीवन का लक्ष्य मानकर सदैव सुख-दुःख के थपेड़े खाया करता है। इसी प्रकार जनम-मरण के झूले में झूला करता है कभी ऊपर कभी नीचे। लेकिन जब कभी भी ईश्वर की महान् अनुकम्पा से, किसी महान् आत्मा से उसका सम्पर्क स्थापित हो जाता है और उसके द्वारा भगवान् की प्राप्ति का मार्ग दिखला दिया जाता है तो मानव-जीवन ही सफल हो जाता है और साधक परमात्मा की प्राप्ति ही .जीवन-लक्ष्य बना लेता है, यही वास्तविकता भी है, क्योंकि यह आत्मा तब तक संसार में विभिन्न रूप धारण करे निरन्तर भटकती रहती है जब तक कि परमात्मा जो कि अंशी है उसमें मिल नहीं जाता ! अतः मानव-जीवन के लक्ष्य-परिवर्तन से ही जीवन सफल हो जाता है। जैसे—

एक ही प्लेटफार्म पर दो गाड़ियाँ आती हैं,, किन्तु दोनों ही एक दिशा में जाएँ यह अनिवार्य नहीं, थोड़े से काँटे के परिवर्तन कर देने मात्र से ही थोड़े समय में दोनों गाड़ियाँ दो भिन्न दिशाओं में सैकड़ों, हजारों मील की दूरी में चली जाती हैं। इस प्रकार दोनों के पहुँचने के स्थान भिन्न-भिन्न हो जाते हैं—

ईश्वर साकार भी और निराकार भी है और यदि पूछो तो, ईश्वर सर्वाकार है। काकार, खाकार, गाकार, घाकार, ङाकार, चाकार, छाकार, जाकार, निराकार, साकार—तात्पर्य कोई भी आकार ईश्वर से भिन्न नहीं।

"सितारों से आगे जहाँ और भी हैं ।
अभी इश्क के इम्तिहाँ और भी हैं ॥
इसी रोज़ो-शब में उलझकर न रह जा ।
कि तेरे जमीनो मकाँ और भी हैं ॥

इसी प्रकार यदि मानव, जो महान् से महान् कार्य इस जीवन में कर सकता है, और कर रहा है, बस इन्हीं कार्यों को लक्ष्य-परिवर्तित करके करने लग जाए तो मानव-जीवन ही सफल हो जाए; अर्थात् जो कार्य वह अपने लिए समझकर करता है, उन्हीं को भगवान् के अर्पित करके करने लग जाए, तो भगवद्प्राप्ति में देर न लगेगी ।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाते हुए भी कहा है:—

"मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥"

हे अर्जुन ! तू मुझमें अपने मन को लगा और अपनी बुद्धि को भी मुझमें ही लगा दे, तो इसके बाद तू मुझमें ही निवास कर मेरे धाम को प्राप्त करेगा, यह निश्चित और अटल है ।

ईश्वर को जो जहाँ खोजता है उसे वह वहीं प्राप्त होता है; जैसे योगी को हृदय में, ज्ञानी को शुद्ध अहम् में, भक्त को प्रेम में, कर्मकाण्डी को पूजा-पाठ में, आर्य-समाजी को ओंकार में (निराकार में), सनातन-धर्मी को मन्दिर में, अँग्रेज को गिरजे में, सिक्ख को गुरुद्वारे में, कोई अग्नि में, कोई ज्योति में, मुसलमान को मसजिद में, जो उसे जहाँ देखता है उसे वहीं मिलता है, क्योंकि वह तो सर्वव्यापक है ।

तात्पर्य यह है कि मानव को अपने जीवन को सफल बनाने के लिए संसार से मोह बन्धन अवश्य छुड़ाना होगा, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि संसार से अलग जाकर भगवान् की प्राप्ति के लिए तप करे, बल्कि संसार के समस्त कर्मों को निष्कामभाव से भगवान् के लिए ही करे, तभी उसका उद्धार हो सकता है। जैसे—

एक मुनीम जो कि करोड़ों रुपयों को अपने पास रखता है, उनका लेन-देन करता है तथा उनकी सुरक्षा में तत्पर रहता है, किन्तु उन्हें किसी को देकर दुखी नहीं होता, क्योंकि उसे इस बात का ज्ञान है कि यह सभी सम्पत्ति उसके स्वामी की है, इसीलिए उसे उन रुपयों के बीच रहते हुए भी उनसे मोह नहीं है। लेकिन उन रुपयों का मालिक रुपयों से चाहे कितनी भी दूर क्यों न रहे उसका लगाव उनके साथ होता है, हर पल उसे अपने धन की चिन्ता रहती है, अगर लाभ होता है तो प्रसन्नता से फूला नहीं समाता और कहीं हानि हो गई तो फिर उसकी अपार वेदना का कहना ही क्या, क्योंकि वह धन उसका है।

इसी प्रकार जो संसार को अपना मानकर कर्म करते हैं वे ही हर्ष-शोकादि का अनुभव करते हैं। ऐसे व्यक्ति अज्ञानी होते हैं जो भ्रमवश दूसरे की चीज को अपना मान बैठते हैं। इस संसार की रचना करने वाला तो परमपिता परमात्मा है,

---

अगर तुझे वह मारने पर ही आ जाए, तो डाक्टर सिरहाने खड़े रह जाएँगे। सन्तान और धन सभी चीजें सामने होंगी; लेकिन तुझे ये सभी चीजें बचा नहीं सकतीं।

वही इसका स्वामी है, लेकिन अज्ञानी व्यक्ति दूसरे की सम्पत्ति का स्वतः स्वामी बनना चाहता है, इसीलिए दुखी होता है और अपने लक्ष्य से विमुख होकर जन्मजन्मान्तर तक विभिन्न प्रकार की योनियों की पीड़ा सहन करता है।

दूसरी ओर जो ज्ञानी पुरुष हैं, उन्हें इस सृष्टि के रचयिता अथवा स्वामी की लीला का भलीभाँति ज्ञान हो जाता है। इसी कारण वे दूसरे की अर्थात् भगवान् की इस समस्त रचना में प्रत्येक कार्य भगवान् का कार्य समझकर करते हैं, इसीलिए वे जन्ममरण के बन्धन से मुक्त होकर सदा-सदा के लिए भगवद्धाम को प्राप्त करते हैं।

बस यही जीवन के लक्ष्य का काँटा बदलते ही जीवन सार्थक हो जाता है।

सभी कार्यों का प्रारम्भ ईश्वर-नाम के साथ करने से ही जीवन अति सुखमय प्रतीत होने लगता है।

× × ×

यह अटल सत्य है कि मानव परमात्मा का अंश है और परमात्मा मानव का है फिर संसार से संबंध कैसा ?

प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना

यह नियम है कि हम जिस भी वस्तु से प्रेम करते हैं वह हमें अवश्य प्राप्त हो जाती है; लेकिन तब, जब कि प्रेम की पराकाष्ठा हो, अन्यथा नहीं। इसीलिए शास्त्रादि पुकार-पुकार कर कहते हैं, हे मानव! तू उस परम प्रेमास्पद भगवान् से निष्काम-भाव होकर प्रेम कर, एक-न-एक दिन तुझे अवश्य ही उनका साक्षात्कार हो जाएगा। भगवान् को जिसने भी और जब भी प्रेम से पुकारा है, उस भक्तवत्सल ने वहीं पहुँचकर अपने भक्त को हृदय से लगा लिया है, क्योंकि वह तो सर्व-व्यापी है, जैसाकि श्री गोस्वामी तुलसीदास ने मानस में लिखा है—

"हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना।।
अग जगमय सब रहित बिरागी।
प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी।।"

लेकिन भगवान् के प्रति हमारा प्रेम इस उच्चकोटि का हो तब न! हम तो उन पदार्थों से प्रेम करते हैं जो स्वयं नश्वर हैं तथा जो हमारे प्रेम का प्रतिफल नहीं दे सकते, अर्थात् जो हमें प्रेम नहीं कर सकते; जैसे—हम कहते हैं यह मेरी कार है, मेरी कोठी है, मेरा अमुक-अमुक सामान है, किन्तु क्या कभी

बिखरा हुआ या आलसी मन अल्प कार्य को भी महान् समझकर असमर्थ हो जाता है और स्थिर मन या एकाग्र मन महान् कार्य को भी सफलतापूर्वक कर लेता है।

इन पदार्थों ने भी हमें अपना माना है। कार के नष्ट होजाने पर हम दुखी होते हैं, रोते हैं, लेकिन क्या कभी कार ने भी हमारे दुःख के साथ दुःख बटाया है—नहीं, नहीं! ये नश्वर पदार्थ हैं और हम मोहवश इन्हें अपना मान बैठे हैं, ये अवश्य हमारा साथ छोड़ देंगे, या यह नाशवान् शरीर किसी दिन उनका साथ छोड़ देगा, लेकिन परब्रह्म परमात्मा तो अजर-अमर है तथा उसका अंश आत्मा भी कभी विनष्ट नहीं होती। वह परमात्मा हर समय हमारे साथ है लेकिन इस मिट्टी के बने शरीर के साथ सम्बन्ध होजाने से हमने ही उसे भुला रखा है और अज्ञानवश नाशवान् पदार्थों के प्रेम के जाल में उलझकर उसे भुला बैठे हैं, जिस प्रकार हम इन पदार्थों से प्रेम करते हैं, कहीं उस परमपिता परमात्मा से करने लग जाएँ तो वह खुद ही दौड़ा आएगा, वह तो प्रेम-भरी पुकार पर ही रीझ जाता है, लेकिन यह प्रेम-पंथ अत्यन्त कठिन है, इस पर तो विरले ही चल सकते हैं क्योंकि—

"प्रेम पंथ अति कठिन है,
सबसों निबहत नाँहि।
चढ़कर मोम तुरंग पर,
चलिबो पावक माँहि॥"

तात्पर्य यह है कि प्रेम के दुरूह मार्ग पर चलना तो उसी प्रकार कठिन एवं असम्भव है जिस प्रकार मोम के बने घोड़े पर सवार होकर अग्नि में चलना, लेकिन जो प्रेम-मार्ग की

अपने कर्त्तव्य को कर्त्तव्यपरायणता के साथ मन और बुद्धि की पूरी शक्ति से निभाए, जीवन में यह सफलता का सिगनल है

कठिनाइयों को भी हँसकर सहन कर लेते हैं उनका प्रेम सच्चा प्रेम है और इसी सच्चे प्रेम से प्रभु अग्नि के समान प्रत्येक स्थल पर अपने भक्त का मान रखने के लिए प्रगट हो जाते हैं।

इस प्रकार सच्चे हृदय की पुकार से भगवान् की प्राप्ति निश्चित एवं सहज है और भोगों की प्राप्ति अनेकों इच्छाएँ करने पर भी अनिश्चित और कठिन हैं।

इसलिए भगवान् के प्रेम-मार्ग के पथिक बनकर हमें कभी उनके प्रति श्रद्धा में कमी न आने देनी चाहिए और हृदय की स्थिति को न बदलना चाहिए तो भगवान् के दर्शन असंभव नहीं। यह मानव-जीवन तो एक संग्राम है, जिसके हर क्षण में परिस्थितियाँ अनुकूल-प्रतिकूल हुआ करती हैं, लेकिन हमें भगवान् के प्रति श्रद्धापूर्ण स्थिति को किसी भी हालत में नहीं बदलना चाहिए, फिर वह परम प्यारा अवश्य ही आकर मिलेगा, क्योंकि—

"जाकर जेहि पर सत्य सनेहू।
सो तेहि मिले न कछु सन्देहू॥"

हमारा इतिहास इस बात का साक्षी है कि भगवान् ने भक्तों के प्रेम के वशीभूत होकर असम्भव को भी सम्भव बनाया है, क्योंकि वह तो परम दयालु है—

पदार्थ प्रत्येक योनि में प्राप्त हो सकता है, मित्र भी प्रत्येक योनि में प्राप्त हो सकते हैं, स्त्रियाँ भी प्रत्येक योनि में अनेक प्रकार की प्राप्त हो सकती हैं, लेकिन मानव-शरीर का बार-बार मिलना बहुत ही मुश्किल है।

"प्रबल प्रेम के पाले पड़कर ।
प्रभु को नियम बदलते देखा ।।
अपना मान टले टल जाए ।
भक्त का मान न टलने पाए ।।"

विष खाने वाला मृत्यु के घाट उतर जाता है, लेकिन मीरा का जीवन-चरित्र इस बात का साक्षी है कि अनेक सम-विषम परिस्थितियों के आने पर भी उसका अटल निश्चय था—

"मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरौ न कोई ।
जाके सिर मोर-मुकुट मेरौ पति सोई ।।"

इसीलिए सर्प उनके लिए सुन्दर फूलों की माला बन गया और विष अमृत बन गया ।

इसी प्रकार अग्नि में जलकर व्यक्ति राख बन जाता है, किन्तु यह नियम भक्त प्रह्लाद के लिए नहीं। हिरण्यकशिपु ने भगवान् का नाम लेने के कारण ही अपने पुत्र प्रह्लाद को विभिन्न प्रकार के कष्ट दिए, उसे अग्नि में भस्म करने का भी प्रयत्न किया, किन्तु किसी भी प्रकार उसे मारा न जा सका, क्योंकि उसकी भगवान् के प्रति अटूट श्रद्धा जो थी । इसीलिए जब उसने कहा कि इस गर्म लोहे के खम्भे में भी मेरे प्रभु हैं तो वह शीघ्र ही प्रगट हो गए, क्योंकि उन्हें तो अपने भक्त का मान रखना होता था ।

कर्मों की गति अनिवार्य है । कर्मों में आसक्ति का भाव रखनेवाले व्यक्ति विनाश को प्राप्त होते हैं; किन्तु यदि कर्मों को करते हुए भी उनके प्रति मन में अनासक्ति का आश्रय लिया जाए तो निश्चय ही कर्मों के भोग का आनन्द आते हुए भी उनसे मुक्ति मिल जाएगी ।

इस प्रकार भगवान् तो सर्वत्र व्यापक हैं किन्तु उसी को दर्शन देते हैं जो उन्हें श्रद्धा और विश्वास से पुकारते हैं। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने भक्तों के विषय में बतलाया है कि जो—

"दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्चेत ॥"

अर्थात् दुःखद स्थिति के आजाने पर जिनका मन दुःखी नहीं होता और सुखद स्थिति में जिसकी सुख की तृष्णा नष्ट हो गई है और आसक्ति, भय, क्रोध आदि जिसके हृदय से नष्ट हो गए हैं; वही स्थितप्रज्ञ और मुनि कहलाता है। ऐसे मुनि ही भगवान् से सच्चा प्रेम करते हैं, क्योंकि वह अच्छी प्रकार जानते हैं कि—

"हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥"

भगवान् सबमें व्यापक और समान रूप से विराजमान हैं। अतः जो भी भगवत्-प्राप्ति चाहता है उसे किसी से भी द्वेष नहीं करना चाहिए।

× × ×

जब तक भगवान् का प्रेम नहीं मिलता तब तक जीवन कीचड़ में फँसे हुए हाथी के समान है।

कर्त्तव्य-पालन

मानव-जीवन को सफल बनाने का एकमात्र उपाय है कर्त्तव्य-पालन; अर्थात् प्रभु ने जो कार्य करने के लिए हमारी रचना की है उनका उचित रूप से पालन करते रहना।

प्रत्येक सरल कार्य को इस प्रकार करें जैसे कोई दुरूह कार्य करने जा रहे हैं और कठिन कार्यों को आसान समझकर करें, तभी कर्त्तव्य-पालन में सफलता मिल सकती है, क्योंकि जो स्थिति हमें सरल या कठिन दिखाई देती है वह वास्तव में वैसी नहीं होती।

जिन कार्यों से आप बचना चाहते हैं, उन्हें नियमानुसार नित्यप्रति करने का अभ्यास कीजिए, इससे प्रत्येक कार्य को बिना कष्ट का अनुभव किए ही करने की आदत पड़ जाएगी, क्योंकि जिस कार्य का हमें अभ्यास हो जाता है वह सरल मालूम होने लगता है। जब पहली बार साइकिल चलाना सीखा जाता है तो बहुत कठिन मालूम होता है और कईबार चोट भी खानी पड़ती है, किन्तु जब नित्य अभ्यास किया जाता है तो यह क्रिया सरल हो जाती है, फिर चाहे एक हाथ से

भगवान् के जैसे दयालु होने पर भी जो अन्य किसी से दया की आशा रखता है, भगवान् के जैसे विश्वासपात्र के होने पर भी जो अन्य किसी का विश्वास करता है, भगवान् के नाम जैसी पावन निधि की प्राप्ति के पश्चात् भी जो अन्य किसी उपाय से पवित्र होना चाहता है और भगवान् के जैसे सुख-सिन्धु के होने पर भी जो अन्य किसी से सुख की कल्पना भी करता है, वह शास्त्रकारों की गणना में बुद्धिमान् नहीं; निरा अज्ञानी है और सांसारिक भ्रम में पड़ा हुआ है!

पकड़कर साइकिल चलाएं, चाहे बातें करें, चाहे गाएँ, साइकिल बराबर चलती ही रहेगी। इस प्रकार नियम-पालन से भी कर्त्तव्य-पालन आसान हो जाता है।

किसी भी निर्णय पर पहुँचने के बाद ही कार्य आरम्भ करें और समस्त शंकाओं को मन से निकाल दें, तब परिणाम में सफलता ही मिलेगी।

जो भी कार्य करें पूर्ण विश्वास के साथ करें कि इसमें असफल होना असम्भव है।

कार्य-क्षेत्र से हटने पर मस्तिष्क से कार्य को निकाल दें, ताकि मस्तिष्क पुनः स्वस्थ होकर अधिक कार्य करने की शक्ति संकलित कर सके।

जो भी कार्य करें निःसंकोच भाव से, विश्वास के साथ करें कि कार्य ठीक ही किया जा रहा है, क्योंकि सदैव भयभीत होकर कार्य करना कि कहीं कोई भूल न हो जाए, 'जीवन की सबसे बड़ी भूल है' सशंक व्यक्ति कोई भी कार्य ठीक प्रकार से नहीं कर सकता।

कार्य को अपना पूरा शारीरिक तथा मानसिक श्रम लगाकर करें और सोने से पूर्व उसकी चिन्ता को मन से निकाल कर विश्राम करें, तो शरीर और मन दोनों ही अधिक शक्तिशाली बनकर कर्त्तव्य-पालन के लिए अधिक प्रेरणा प्रदान करेंगे।

'किसी भी कार्य को करने में समय का दुरुपयोग होता है' इस विचार को मनमें कभी भी स्थान न दें, क्योंकि प्रत्येक कार्य

प्रेम प्रेमास्पद को अपने अधीन करने का प्रयत्न नहीं करता, अपितु स्वयं को प्रेमास्पद के चरणों में समर्पित करने के लिए होता है।

किसी न किसी प्रकार का अनुभव ही करता है और इन अनुभवों का बुद्धिमत्तापूर्वक प्रयोग ही उन्नति का एकमात्र साधन है।

यहाँ तक तो रही इस लोक में कर्त्तव्य-पालन की बात, लेकिन इसके साथ ही मनुष्य के जीवन का लक्ष्य कुछ और भी है, वह है मानसिक उन्नति, क्योंकि मानसिक उन्नति ईश्वर के प्रति कर्त्तव्य-पालन की भावना जाग्रत करती है। जिस प्रकार शरीर के स्वस्थ रहने से सांसारिक कृत्यों में सफलता मिलती है, उसी प्रकार मन की शुद्धि से परमात्मा की प्राप्ति सुलभ हो जाती है। मन की शुद्धि का एकमात्र उपाय है कि मन को बुरी भावनाओं से बचाया जाय, क्योंकि हमारा प्रत्येक कार्य सबसे पहिले मन से सम्बन्धित है—मन विचार करता है, वचन उसे प्रगट करते हैं और कर्म के द्वारा उसका सम्पादन किया जाता है। अतः कर्त्तव्य-पालन की श्रेष्ठता के लिए मूल रूप मन का सुधार सर्वप्रथम आवश्यक है।

प्रेमास्पद का दिया हुआ विरह जन्य दुःख भी सच्चे प्रेमी के लिए सुखप्रद होता है। वह उसे अपने प्रेमास्पद का दिया हुआ सुखमय वरदान ही मानता है।

× × ×

जब तक जीना है प्रसन्न रह कर जी और भगवान् से सम्बन्ध रख तभी वास्तविक सुख मिल सकेगा।

'सुख का साथी सकल जग'

यह समस्त संसार सुख का साथी है, दुःख का नहीं ! जब मानव प्रसन्न है, तो सारा संसार उसकी प्रसन्नता में भाग लेने को तत्पर हो जाता है, किन्तु तनिक भी दुःख की छायामात्र देखते ही सब उसका साथ छोड़ देते हैं, क्योंकि सब आनन्द के साथी हैं।

परम पिता परमात्मा का नाम सच्चिदानन्द अर्थात् सत्+चित्+आनन्द है। जीव सत्य भी है और चेतन भी। किन्तु उसमें आनन्द की कमी है, इसीलिए जीव कहलाता है। जीव वह है, जो माया के कारण ब्रह्म से भिन्न हो गया है। इसलिए जब आनन्द का अभाव विनष्ट हो जाएगा, तो सारा संसार मनुष्य का साथी बन जाएगा, किन्तु जब कभी 'आनन्द' मनुष्य से अलग हो जाएगा तो फिर यह जग पुनः उसका साथ छोड़ देगा। यह समस्त संसार आनन्दरूपी परमात्मा का साथी है, जीव का नहीं। अपितु मनुष्य को—

"यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।"

अपनी आत्मा में ही प्रीति करनेवाला, आत्मा में ही तृप्त रहनेवाला और आत्मा में सन्तुष्ट रहनेवाला होना चाहिए, ऐसे व्यक्ति के लिए गीता में किसी भी प्रकार के कर्तव्य-पालन के

प्रेम कभी तृप्ति नहीं चाहता। प्यास ही प्रेम का साक्षात् स्वरूप है। प्रेम में तो प्रियतम के बिना एक पल भी कल्प के समान है, फिर तृप्ति का प्रश्न ही क्या और जहाँ तृप्ति की सीमा आ जाती है, वहाँ प्रेम में सत्यता नहीं।

लिए नहीं बताया है, क्योंकि जो अपने में सन्तुष्ट है उसे संसार की आवश्यकता नहीं, यह संसार तो माया-जाल में फँसे हुए जीव के लिए ही है। और भी जो पुरुष—

"योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥"

निश्चयपूर्वक आत्मा में ही सुख पानेवाला है और आत्मा में ही विश्राम पानेवाला है तथा जो अपनी आत्मा में ही ज्ञान का अनुभव करनेवाला है वही सच्चिदानन्द परमात्मा के साथ एकीभाव से स्थित हुआ सांख्ययोगी शान्ति को प्राप्त होता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिसने अपनी आत्मा को आनन्दस्वरूप परमात्मा में एकीभाव से स्थित कर लिया है, उसके लिए दुःख नाम की कोई वस्तु नहीं रह जाती है और उसके लिए सर्वत्र सुख ही सुख सुलभ होता है, किन्तु जो स्वतः इस आनन्द से वंचित है, संसार भी उसकी दुःखद स्थिति में साथ नहीं देता है, क्योंकि संसार तो सुख का साथी है दुःख का नहीं।

परमात्मा के नाम का स्मरण अगले घण्टे या अगले दिन पर न टालो और तत्काल ही कार्यक्रम बनाकर भगवान् का स्मरण प्रारम्भ करदो, अपनी संसारोन्मुख वृत्ति को भगवान् की ओर उन्मुख करलो, फिर आगे मिलनेवाला सुख तुम्हें तत्क्षण ही मिलना आरम्भ हो जाएगा।

भक्त के प्रकार

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अपने प्रिय भक्त अर्जुन से भक्तों के प्रकार बतलाते हुए कहा है कि—

"चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहंस मम प्रियः ॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥"

उपर्युक्त श्लोकों में भगवान् ने अपने श्रीमुख से चार प्रकार के भक्तों के बारे में बतलाया है, जोकि भगवान् के प्रति भक्ति-भावना रखते हैं, यथा आर्त्त भक्त, जिज्ञासु भक्त, अर्थार्थी भक्त और ज्ञानी भक्त। इनमें से प्रथम तीन प्रकार के भक्तों की तो भगवान् के प्रति सकाम भक्ति-भावना होती है और चतुर्थ ज्ञानी भक्त निष्काम भाव से उपासना करता है। निष्काम भक्त भी दो प्रकार के होते हैं—ज्ञानी भक्त और प्रेमी भक्त। जैसे नारद, शुकदेव, प्रह्लाद आदि निष्काम ज्ञानी भक्त की श्रेणी में आते हैं और अक्रूर, उद्धव, गोपियाँ आदि निष्काम प्रेमी भक्त की श्रेणी में आते हैं।

भगवान् अपने इन निष्काम भक्तों को अत्यन्त प्रेम करते हैं और इन्हींके हाथों बिक जाते हैं, यथा—

मानव-जीवन को तब तक एक पल को भी विश्राम नहीं मिल सकता है, जब तक कि नश्वर जीवन और समय का विस्मरण होकर सहज-स्वाभाविक भावना से ईश्वर-चिन्तन प्रारम्भ नहीं हो जाता है।

"सदा मुक्तोऽपि बद्धोऽस्मि भक्तेषु स्नेहरज्जुभिः ।"

अर्थात् "मैं सदा बन्धनमुक्त होता हुआ भी भक्तों की प्रेम डोरी से बँधा हुआ हूँ ।"

इस प्रकार भगवान् निष्काम भक्तों के वशीभूत होकर विभिन्न प्रकार से नाचा करते हैं । अब हम इन चार प्रकार के भक्तों की अलग-अलग व्याख्या करेंगे ।

(१) **आर्त्त भक्त**—आर्त्त भक्त तामसिक कोटि का भक्त होता है, जोकि रोगादि के दुःख से भयभीत होकर भगवान् को अत्यन्त आर्त्त होकर पुकारता है—हे प्रभु ! हे भक्तवत्सल ! आप मेरी रक्षा करें, आपके सिवाय मेरा कोई भी नहीं है । जब वह अनन्य भाव से भगवान् को पुकारता है तो भगवान् उसके कष्टों का निवारण कर देते हैं, किन्तु कष्ट की निवृत्ति होते ही आर्त्त भक्त की भगवान् की भक्ति में स्वाभाविक रुचि नहीं रह जाती ।

ऐसे प्रार्थी भक्त को ही आर्त्त भक्त कहते हैं । ग्राह से ग्रसित जल में डूबते हुए गजराज ने जब अत्यन्त आर्त्त होकर भक्तवत्सल भगवान् को अत्यन्त दीन होकर प्रेम से कमल पुष्प भेंट देकर पुकारा तो भगवान् से न रहा गया और उन्होंने अपनी ही शरण में आए हुए निराश्रित गजराज को ग्राह के बन्धन से मुक्त कर दिया ।

तुम जो कुछ भी संकल्प बनाते हो, वह बस केवल भगवान् से ही सम्बन्धित हों, तो परिणाम सुखमय होगा और यदि सांसारिक कृत्यों के संकल्पों को जीवन में महत्त्व दोगे, तो परिणाम निराशापूर्ण एवं दुखमय ही होगा ।

"पढ़यो लिख्यो ना जप कियो,
ना तप कियो गजराज।
रहिमन फूल दिखाय कै,
टेर लियो ब्रजराज ॥"

कितने भोले हैं भगवान् जो अपनी शरण में आये हुए किसी भी भक्त को निराश नहीं करते। इसी प्रकार इन्द्र के प्रकोप से व्याकुल ब्रजवासी भी आर्त्त भक्त की श्रेणी में ही आते हैं।

(२) जिज्ञासु भक्त—जिज्ञासु भक्त को राजसिक की संज्ञा दी जाती है, क्योंकि उसे परमात्मा के विषय में जानने की उत्कंठा बनी रहती है। सर्वप्रथम तो उसके मन में परमात्मा के विषय में संशय होता है, दूसरे उसके हृदय में ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम भी नहीं होता है, फिर भी उसके गुण और अलौकिक कार्यों के विषय में जानने के लिए उत्सुक रहता है, अतः निरन्तर महापुरुषों के द्वारा भगवान् के अलौकिक चरित्रों का श्रवण करता हुआ, अपनी बढ़ती हुई जिज्ञासा का विभिन्न प्रकार से समाधान करने में प्रवृत्त रहता है।

(३) अर्थार्थी भक्त—अर्थार्थी भक्त वह है जो इस लोक और परलोक में सुख, सम्पत्ति, धनादि की प्राप्ति की इच्छा से भगवान् की उपासना करता है, अर्थात् राजसिक कामनाओं की पूर्ति के लिए ही भक्ति मार्ग में प्रवृत्त होते हैं; जैसे सुग्रीव,

---

मानव तुझे कुछ प्रकाश भी दिखाई देता है या चारों ओर मोहान्धकार ही। जिनके सम्पर्क में तुम खोये हुए हो, एक बार उनसे तटस्थ होकर भी देखो। ऐसा करते ही तुम मोहान्धकार से मुक्त होकर उस अक्षुण्ण प्रकाश के दर्शन करोगे।

विभीषण आदि ने किसी वैभव के लिए ही भगवान् की भक्ति की थी।

इस प्रकार उपर्युक्त तीनों प्रकार के भक्त भगवान् की उपासना किसी कामना की पूर्ति हेतु ही करते हैं।

(४) **ज्ञानी भक्त**—ज्ञानी भक्त वह है जो निष्काम-भाव से अपने परम प्रेमास्पद के चरण-कमलों की उपासना करता हुआ, अनन्य भाव से उन्हीं के ध्यान में निरत रहता है, क्योंकि उसका मन विषय–वासनाओं से विरक्त हो जाता है और वह स्वात्मा के प्रेम में ही रत रहकर आत्मा की प्राप्ति के लिए ही निस्वार्थ भावना से ईश्वर की भक्ति करता है।

ज्ञानी भक्त को भक्तवत्सल भगवान् की भक्ति में निरत रहना ही भाता है, इसीलिए तो अपने ज्ञानी भक्त के लिए भगवान् ने कहा है—

"उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।"

कि यद्यपि भक्त मुझे प्रिय हैं, फिर भी ज्ञानी भक्त सर्वश्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे समस्त विषय-वासनाओं से निवृत्त होकर निरन्तर परमात्मा के विचार के चिन्तन में ही अनन्यभाव से लगे रहते हैं।

यही कारण है कि निष्काम आत्मरत ज्ञानी भक्त को भगवान् अत्यन्त प्रिय होते हैं और भगवान् को भी ऐसे भक्त

यह शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण और मन तुझे अपना दास नहीं बना सकते हैं, क्योंकि यह तो साधन मात्र हैं, साध्य नहीं। तू स्वतः अज्ञानवश इनका दास बना हुआ है, अपने ज्ञानचक्षु खोल और इन्हें परमपिता परमेश्वर की सेवा करने की आज्ञा देता रह, ये अवश्य उसका पालन करेंगे।

अत्यन्त प्रिय होते हैं। इसीलिए ज्ञानी भक्त को अपनी आत्मा बतलाया है, क्योंकि वह किसी की भी शरण न लेकर भगवान् की ही शरण लेता है। ऐसा भक्त भगवान् को छोड़कर ब्रह्मपद, इन्द्रपद, चक्रवर्ती राज्य, योग-सिद्धियाँ, मोक्ष आदि किसी की भी कामना नहीं करता।

भगवान् के चरणारबिन्दों में अनन्य भक्ति उत्पन्न हो जाने पर भक्त की अजीब दशा हो जाती है, वह संसार में रहते हुए भी उससे निर्लिप्त रहता है और परमानन्द रस का अनुभव करता है, अतः उनमें कुछ अद्भुत लक्षण दृष्टिगत होने लगते हैं।

भगवान् के प्रति भक्ति भावना के उदय से भक्त का हृदय अत्यन्त कोमल हो जाता है और अपने प्रेमास्पद के प्रति अनुराग बढ़ जाता है अतः वह अन्य किसी विषय में ममता न करके अपने प्राणनाथ परमेश्वर में ही प्रेम भरी ममता करने लग जाता है। लेकिन भगवान् भी अपने इन अनन्य भक्तों की अनेक प्रकार से परीक्षा लेकर उनकी भक्ति को तपाकर खरा बना देता है।

इस प्रकार भगवान् अपने भक्तों की रक्षा करते हुए अपनी भक्तवत्सलता के प्रण को निभाया करते हैं।

हे अज्ञानी मानव ! तूने भगवान् के बनाये संसार के साथ तो अनेकों सम्बन्ध स्थापित कर रक्खे हैं, लेकिन क्या उस परमपिता परमात्मा के साथ भी किंचित सम्बन्ध माना है ? इस संसार के सभी सम्बन्ध नश्वर हैं लेकिन 'उसका' सम्ब्रन्ध अनश्वर है अतः उसे जानो और देखो कि तुम उसके कितने निकट हो, जितनी निकटता कि अन्य किसी भी पदार्थ के साथ सम्भव नहीं हो सकती।

भक्त के लक्षण

निरन्तर भगवान् के ध्यान में निरत रहनें से भक्तों में कुछ विशेषताएँ उत्पन्न हो जाती है जो कि इस प्रकार हैः—

(१) **सम्मान**—भक्त अपनें इष्टदेव की मूर्त्ति को देखकर बारम्बार उसके सम्मुख नत-मस्तक होकर प्रणाम् करता है। ऐसा करने से उसमें निहित अहं की भावना का विनाश हो जाता है, क्योंकि जिसके सम्मुख झुका जाता है, उसे ही हम सम्मान देते हैं और उसके सामने अपने अहं की भावना को भुला देते हैं। जैसे अर्जुन प्रतिक्षण, प्रत्येक अवस्था में श्रीकृष्ण भगवान् का सत्कार किया करते थे, इसमें वह तनिक भी भूल न करते थे, इसी से अर्जुन भगवान् की विशेष कृपा के पात्र बने।

(२) **बहुमान**—समस्त सांसारिक पदार्थों की अपेक्षा स्वेष्टदेव परमात्मा का ही बहुत प्रकार से सत्कार करना 'बहुमान' कहलाता है। भक्त सदैव अपने परिवार आदि के नाम भगवान् के नाम के आधार पर ही रखता है। इससे भक्त में अनेक गुणों का विकास होता है और वह किसी भी बहाने से परमेश्वर की स्मृति में तल्लीन हो जाते हैं। इस प्रकार भक्त बहुत प्रकार से भगवान् को मान्यता देता हुआ उन्हीं के सत्कार में लगा रहता है।

भगवान् की प्राप्ति का जो स्वर्ण-अवसर तुम्हें आज और अभी मिला है उसे कल पर टालना नितान्त मूर्खता है। इसी से तुम्हारी भगवत्-प्राप्ति की इच्छा पूर्ण नहीं हो पाती; क्योंकि आने वाले कल पर किसी का अधिकार नहीं होता।

(३) प्रीति—भगवान् की भक्ति में निरत रहनेवाले भक्त के हृदय में भगवान् के प्रति अनन्य प्रीति उत्पन्न हो जाती है। जैसे अविवेकी जीवों की विषय-वासनाओं में अनन्य प्रीति होती है, वैसे ही भक्त की स्वेष्टदेव के प्रति प्रेम की पराकाष्ठा हो जाती है।

प्रीति का उदाहरण विदुर और उनकी पत्नी विदुराणी से बढ़कर और क्या हो सकता है कि जब भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र विदुर के घर आए और उन्हें पुकारा तो स्नान करती हुई विदुराणी उनकी आवाज पहिचानकर वस्त्र पहिनना ही भूल गई और प्रेमातुर बाहर आकर भगवान् का सत्कार किया। प्रियतम परमात्मा के दर्शन, श्रवण, स्पर्श, कथन आदि से ही भक्त का हृदय पिघल जाता है, यही प्रेम की पराकाष्ठा है, जहाँ जानबूझकर नहीं बल्कि स्वतः ही नियमों का परित्याग हो जाता है और प्रेमी तथा प्रेमास्पद के बीच भेद की स्थिति समाप्त हो जाती है। यथा—

"एक नियम यह प्रेम को,
नियम सभी मिट जाँहि।
पै जो छाड़े जानकर,
तहाँ प्रेम कछु नाँहि॥"

अस्तु, प्रेम दिवानी विदुराणी वस्त्रहीन ही भगवान् के चरणारबिन्दों से लिपट गई, उसकी यह स्थिति देखकर भगवान् ने अपना पीताम्बर उसे उढ़ा दिया, उसी अवस्था में वह

वास्तविक समाधि और जपजोग एकान्त की वस्तु नहीं है, अपितु इनकी परीक्षा तो व्यवहार में ही होती है।

श्रीकृष्ण को अपने घर ले आयी, भगवान् के सत्कार के लिए उसके पास कुछ भी न था तो पानी और केले ही ले आई, लेकिन प्रेम-विह्वलता के कारण वह केले छीलकर तो फेंकती गई और छिलके भगवान् को देती गई। भगवान् तो प्रेम के भूखे हैं, वह बारम्बार उनकी प्रशंसा करते हुए बड़े प्रेम से छिलकों को खाने लगे। वाह रे भगवान्! जो प्रेम से भक्त की सभी भेंट स्वीकार कर प्रसन्न रहते हैं।

इस प्रकार भक्त में तीसरा लक्षण है भगवान् के प्रति अनन्य प्रीति की उत्पत्ति होना।

(४) **विरह**—अपने इष्टदेव की स्मृति से हृदय व्याकुल हो जाए, करुणा से भर जाए या बेसुध हो जाए, इसी को विरह कहते हैं। भक्त कबीर ने तो विरह को प्रेम में बड़ा ऊँचा स्थान दिया है, वह कहते हैं कि—

"विरह कहे कबीर सों,
तू जनि छाड़ै मोहि।
परब्रह्म के तेज में,
तहाँ ले राखौं तोहि॥"

तात्पर्य यह है कि विरह की अग्नि ही प्रेमी को प्रेमास्पद परब्रह्म की प्राप्ति के लिए तपाकर खरा बना सकती है, लेकिन ऐसे विरह की स्थिति प्राप्त करना भी कठिन है, जिसमें प्रेमी अपनी सुध-बुध खोकर वियोग व्यथा से व्याकुल हो उठे। कबीर कहते हैं—

यह जो संसार दिखाई दे रहा है, यह सब परमात्मा के बिम्ब से ही प्रतिबिम्बित है, फिर राग-द्वेष किससे? क्योंकि जीवन तो परमात्मा से परिपूर्ण है।

"कबीर हाँसे प्रिय न पाइए,
जिन्ह पाया तिन्ह रोय।
हाँसि खेलि जो पिया मिले,
तो को दोहागिन होंय ॥"

अर्थात्—जिन्होंने भी अपने प्रेमास्पद को पाया है, उन्हें पहले रोना अवश्य पड़ा है, क्योंकि प्रिय से हँसी-हँसी में कभी भेंट नहीं होती है, अगर बिना रोए ही प्रियतम का समागम हो गया है तो उन्हें बाद में रोना पड़ता है, लेकिन ऐसा होता नहीं है, नहीं तो कोई अपने दुर्भाग्य को क्यों कोसता ?

विरह में तो व्याकुल प्रेमी की दशा ही अनोखी हो जाती है, कभी वह रोता है, कभी सिसकता है, कभी नाचता है, कभी मूर्छित हो जाता है आदि-आदि अवस्थाओं में वह अपने प्यारे की स्मृति में इस प्रकार तल्लीन हो जाता है कि उसे कुछ होश ही नहीं रहता। एक महात्मा ने प्रेमी की इस विरहाकुल दशा का बहुत मार्मिक चित्रण किया है—

"प्रभो ! जिस पर तुम हो रीझते, क्या देते यदुवीर ?
रोना, धोना, सिसकना और आहों की जागीर ॥"

अर्थात्—वह परमपिता परमात्मा जिस किसी भक्त पर रीझता भी है तो उसे रोने, धोने, सिसकने और आहों की ही

जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवारें कितना भी प्रयत्न करने पर नहीं रखी जा सकती हैं, उसी प्रकार मन-सदन में भी वह परमात्मा और वासना साथ नहीं रह सकते हैं। अतः यदि उसे अपना बनाना है तो संसार के समस्त मोह के बन्धन तोड़ दो, भगवान् सहज सुलभ हो जाएगा।

सम्पत्ति देता है, क्योंकि विरह ही एक ऐसी अवस्था है जिसमें प्रेमी अपने प्यारे को एक क्षण मात्र के लिए भी नहीं भुला सकता है।

श्री उद्धव जब ब्रज से लौटकर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के पास आए तो गोकुलवासियों की विरह-दशा का वर्णन करते हैं, इसी भाव को रहीमखान ने बहुत सुन्दर ढंग से लिपिबद्ध किया है—

"कह रहीम उत जाय के, गिरधारी से टेर।
गोपी दृग् जल झरन ते, अब ब्रज डूबत फेर॥"

हे कृष्ण! तुम्हारे विरह में गोपियों के नेत्र-रूपी झरनों से अविरल अश्रु (जल) प्रवाहित हो रहे हैं, एक बार इन्द्र का प्रकोप होने पर तो तुमने ब्रज को डूबने से बचा लिया था अब फिर वही स्थिति बन गई है, तुम शीघ्र ही ब्रजवासियों की रक्षा करो।

प्रेम में विरह की स्थिति प्रभु प्रेम की वृद्धि के लिए ही देते हैं। प्रेम-पुजारिन गोपियों से भगवान् कहते हैं कि मैं प्रेम करने वाले भक्तों के साथ प्रेम इसलिए नहीं करता हूँ, ताकि मुझे प्राप्त करने की उनकी इच्छा अधिकाधिक तीव्र हो जाए, इसीलिए मैं अपने परम भक्तों को विरह ही अधिक देता हूँ।

परन्तु विरह की स्थिति में भक्त को अपने विवेक और वैराग्य का कभी भी त्याग नहीं करना चाहिए, वरना उनकी

तेरा यह अहंकार असत्य है कि तेरे करने से ही संसार की गति है, यदि ऐसा ही है तो मरणासन्न होने पर वह 'करने का' अभिमान कहाँ चला जाता है?

स्थिति श्रीराम के विरह में व्याकुल अयोध्या-वासियों जैसी ही हो जाती है।

इस प्रकार प्रेम में विरह वह स्थिति है जिसमें साधक अपने साध्य की प्राप्ति के लिए और भी अधिक व्याकुल हो उठता है।

(५) इतरविचिकित्सा—अपने इष्टदेव के अतिरिक्त और किसी से भी प्रभावित न होना, इतरविचिकित्सा कहलाता है। जैसे एक भिखारी किसी राजा से धनादि की प्राप्ति की इच्छा से गया, किन्तु वहाँ जाकर देखा कि राजा स्वतः भगवान् से अपने कल्याण के लिए प्रार्थना कर रहा था। प्रार्थना समाप्त होने के बाद राजा ने याचक से याचना करने को कहा, तो याचक ने पूछा आप किससे प्रार्थना कर रहे थे। राजा ने कहा सर्वशक्तिमान जगतपिता परमेश्वर से प्रार्थना कर रहा था कि वह सब प्रकार मेरी रक्षा करे। भिखारी को बड़ा आश्चर्य हुआ और कहने लगा "मँगते से क्या माँगना" अर्थात् जो स्वयं याचक है, उससे क्या याचना करना। मैं भी उसी सर्वशक्तिशाली परमात्मा से ही याचना करूँगा जिससे तुम माँग रहे थे ताकि—

"जेहि जाचिये याचकता जरि जाहि।"

जिससे एक ही बार माँगने पर जीवन भर के लिए माँगने की क्रिया ही समाप्त हो जाये। इस प्रकार साधक अपने इष्टदेव के अतिरिक्त किसी और के सामने अपना हाथ ही नहीं फैलाता

संसार में रहकर भी भगवान् की ओर देख, उसे देखने पर ही संसार से मुक्ति सम्भव है।

ग्रौर न किसी से प्रभावित ही होता है, उसकी दृष्टि में तो उसके स्वामी के ग्रतिरिक्त कोई दानवीर ही नहीं होता है।

(६) **महिमख्याति**—भगवान् के नाम ग्रौर गुणों की महत्ता से स्वतः ग्रवगत होकर ग्रौरों को भी उसका ग्रनुभव कराना ही महिमख्याति भक्त का लक्षण कहलाता है।

यमराज भी ग्रपने दूतों से यही कहते हैं कि जो भक्त भगवान् के नाम का स्मरण करते हों उनसे दूर ही रहना, क्योंकि भगवान् के स्मरण में महान् शक्ति है, जैसे ग्रनिच्छा से स्वाभाविक स्पर्श किया हुग्रा ग्रग्नि भी जला देता है,उसी प्रकार दुष्ट हृदय वाले पुरुषों के द्वारा किया हुग्रा भगवान् के नाम का चिन्तन उनके समस्त पापों का नाश कर देता है।

इस प्रकार ग्रपने इष्टदेव भगवान् की महिमा को प्रकट करना ग्रौर किसी दूसरे की महिमा से प्रभावित न होना ही महिमख्याति लक्षण कहलाता है।

(७) **तदर्थप्राणस्थान**—ग्रपने इष्टदेव परमात्मा के लिए ही ग्रपने जीवन को समझ कर उसकी रक्षा करना ग्रौर उन्हीं के लिए प्रत्येक कार्य का सम्पादन करना भक्त का तदर्थप्राणस्थान लक्षण कहलाता है। इष्टदेव के स्मरण के बिना वह एक पल भी नहीं रह सकता, उसे प्रियतम के ग्रभाव में सारा जगत शून्य एवं सारहीन दिखाई देता है। इस स्थिति में

स्थिर ग्रवस्था का नाम बुद्धि है ग्रौर चंचल ग्रवस्था का नाम ही मन है।

भक्त भगवान् से कहता है कि जब तक आपकी दिव्य कथा संसार में रहेगी तब तक मैं आपकी आज्ञा का पालन करता हुआ अपने जीवन को धारण कर निवास करूँगा।

(८) तदीयता—जब भक्त में तदीयता का लक्षण आ जाता है तो वह समस्त सुख एवं उपभोग की सामग्री को अपने इष्टदेव का प्रसाद समझकर पूर्णरूप से सन्तुष्ट रहता है और उनका उपभोग करता है। इस स्थिति में भक्त किसी भी पदार्थ से ममत्व स्थापित नहीं करता, क्योंकि वह भलीभाँति जानता है कि हम तो उस जादूगर भगवान् के हाथ के पुतले हैं, वह जैसे चाहेगा हमें वैसे ही करना होगा, फिर बीच में विघ्न डालकर हम अपने लिए दुःख एवं असन्तोष के कारण क्यों उपस्थित करें।

इसी भाव से प्रभावित होकर राजा बलि ने अपना सर्वस्व श्री वामन अवतार भगवान् के चरणारबिन्दों में समर्पित कर दिया था। उन्हें तो इस बात में महान् आनन्द की अनुभूति हो रही थी, क्यों कि—

> "तुझको तेरा सौंपता, क्या लागं है मोहि।"

भक्त ने तो यह शरीर आदि भगवान् की थाती समझकर इसकी रक्षा का भार और उठाया था, अब वह उसे सौंपकर निश्चिन्त होकर भगवान् की आराधना में एकाग्र हो सकेगा क्योंकि—

> खुदा अपने दीवानों की खुद करता है निगरानी।
> नया बिस्तर, नया मंजा, नया दाना, नया पानी॥

दुनियाँ में मरना कठिन नहीं, लेकिन किसी का होकर जीना कठिन है।

जिस किसी भी भक्त ने अपने आप को भगवान् को समर्पित कर तदीयता स्थापित करली है, भक्तवत्सल भगवान् स्वतः उसकी निगरानी करते फिरते हैं 'उनका भक्त दुःखी रहे' यह भगवान् कभी भी सहन नहीं कर सकते हैं। इतिहास इसका साक्षी है कि भक्त की विपत्ति दूर करने को भगवान् नंगे पाँव दौड़कर आते हैं।

यदि किसी को आप अपनी घड़ी भेंट करदें तो फिर आपको उसमें चाबी देने की चिन्ता नहीं करनी पड़ती, वह स्वतः उसकी देखभाल कर लेता है। इसी प्रकार हे मानव ! तू भी अपने इस शरीर एवं मन को भगवान् के चरणारबिन्दों पर भेंट चढ़ा दे, वह स्वतः ही इसकी देखभाल कर लेगा।

अतः तदीयता की स्थिति में आकर भक्त सभी वस्तुओं को स्वेष्टदेव की समझकर सुख का अनुभव करता है। उसे अब अपनी किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी पड़ती—भगवान् ने भोजन दे दिया तो भी प्रसन्न है न दिया तो भी प्रसन्न है—

पूरे हैं वही मर्द, जो हर हाल में खुश हैं।
हर काम में, हर दाम में, हर चाल में खुश हैं॥

(६) सर्वत्र तद्भाव—जब भक्त स्वेष्टदेव को प्रत्येक स्थल पर प्रगट रूप में देखने लगता है तो यही तद्भाव की स्थिति कहलाती है। उसे जड़, चेतन सभी में अपने परमपिता

मन एक ऐसा दलाल है जो मनुष्य को भगवान् से नहीं मिलने देता और ईश्वर को मानव से नहीं। अतः मन ही परमेश्वर-प्राप्ति के मार्ग का बाधक है।

परमात्मा की सुन्दर भुवनमोहिनी मूर्ति स्पष्ट नजर आती है अर्थात् कण-कण में भगवान् व्याप्त दिखाई देते हैं।

जब प्रह्लाद को हिरण्यकश्यपु ने अनेक प्रकार की यातनाएें देकर उससे भगवान् की भक्ति का त्याग कराने का प्रयत्न किया, किन्तु वह स्वेष्टदेव की भक्ति को त्यागने के लिए किसी भी प्रकार तैयार न हुआ। पिता ने उसकी मृत्यु का अन्तिम उपाय सोचा कि गरम खम्भे में बँधवाकर इसे मार डाला जाय तो प्रह्लाद से पूछा कि क्या इस जलते हुए लाल खम्भे में तेरा राम है ? प्रह्लाद ने कहा—

"तुझ में, मुझ में, खड़ग–खम्भ में जहाँ देखो तहँ राम।"

मुझे तो प्रत्येक वस्तु में अपना राम ही दिखाई देता है, तब भगवान् ने उसी खम्भे से प्रगट होकर अपने भक्त के बचनों को सत्य कर दिया। ऐसे हैं वह भक्तवत्सल भगवान् जो अपने भक्त की वाणी को सत्य करने के लिए जहाँ कहीं भी भक्त बुलाता है दौड़े आते हैं। इसी भाव को भगवान् ने स्वयं गीता में कहा है—

"यो माम् पश्यति सर्वत्र, सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि, स च मां न प्रणश्यति॥"

अर्थात् जो परम पिता परमात्मा को सब जीवों में और सब जीवों में परमात्मा को देखता है इसलिए न वह किसी भी जीव का नाश करता है और न भगवान् उसका नाश करते हैं, ऐसा भक्त सर्वत्र एकमात्र अपने इष्टदेव के दर्शन करता हुआ परमपद को प्राप्त होता है।

ध्यान उसी का किया जाना चाहिए जिसका शास्त्र प्रमाण है, गुरु केवल मार्ग–निर्देशक मात्र है. लक्ष्य तक पहुँचना न पहुँचना जीव के अपने हाथ है।

इस प्रकार सर्वत्र तद्भाव से भगवान् को भजने वाला योगी जिस किसी भी सम-विषम परिस्थिति में रहने पर भी एकमात्र अभेद भाव से अपने इष्टदेव की आराधना में ही निरत रहता है।

श्री नारायण स्वामी ने ऐसे भक्त का बहुत सुन्दर चित्रण किया है कि किस प्रकार उसे प्रत्येक वस्तु में अपना प्यारा ही दिखाई देता है—

"नारायण जाके हृदय, सुन्दर श्याम समाय।
फूल पात फल डार में, ताको वही लखाय।।
दर दीवार दर्पण भये, जित पेखों तित तोहि।
कांकर पाथर ठीकरी, भये आरसी मोहि।।
तुलसी मूरत राम की, यों घट रही समाय।
ज्यों मेंहदी के पात में, लाली लखी न जाय।।"

वाह रे भक्त! जिसे सब संसार प्रभुमय ही दिखाई देता है।

(१०) अप्रतिकूलता—जब भक्त अपनी इच्छा को भगवान् की इच्छा में मिलादे और भगवान् की इच्छा को अपनी इच्छा समझ उसकी दी हुई प्रत्येक स्थिति को उचित एवं कल्याणकारी समझकर अपना लेता है तो इसे अप्रतिकूलता का लक्षण कहते हैं।

सच्चा भक्त अपने हृदय में परम प्रेमास्पद भगवान् को विराजमान कर उनकी इच्छा के अनुसार ही समस्त इच्छाएँ एवं चेष्टायें करता है। भक्त समस्त दशाओं में अनन्यभाव से भगवान् के चरणारबिन्दों की उपासना में ही तल्लीन रहता है।

मन ही जीव और ब्रह्म के बीच परदा बना हुआ है।

सच्चा प्रेमी चातक मेघ से ही याचना करता है और वह भी स्वाति नक्षत्र के मेघ से, चाहे बादल कितना भी गरजें, ओले पड़ें, पर वह मेघ को छोड़कर अन्य किसी से अपनी प्यास बुझाने की कामना तक नहीं करता है और वह प्राण-पण से अपनी प्रतिज्ञा को निभाता है चाहे उसे कितनी भी परेशानियाँ क्यों न उठानी पड़ें। जैसाकि मानस में गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है—

"उपल वरषि तरजत गरजि,
डारत कुलिश कठोर।
चितवत चातक जलद तजि,
कबहुँ आनि की ओर॥"

क्योंकि उसे तो अपना प्रण निभाना है, इसीलिए—

"ब्याध बध्यो पपीहरा,
परियो गंगाजल जाय।
चूँच मूँद पीवे नहीं,
धिक् पीवे व्रत जाय॥"

इस प्रकार निरन्तर भगवान् के ध्यान में तल्लीन रहने वाले भक्तों में स्वाभाविक रूप से ये उपर्युक्त दस लक्षण आ जाते हैं जिनके द्वारा वह परमपिता परमात्मा का अत्यन्त प्यारा बन जाता है और भगवान् अपने ऐसे भक्त की रक्षा इस प्रकार करते हैं जैसे माँ अपने बच्चे की रक्षा किया करती है।

शास्त्र-स्मृति, युवती-चित्त, राज स्वभाव किसी के वशीभूत नहीं होते एवं भक्त-भगवान् और साधक का मन इस साधन (भक्ति) से वशीभूत ही रहते हैं।

मन, बन्धन और मोक्ष

वेद-पुराण, शास्त्रादि पुकार-पुकार कर चेतावनी दे रहे हैं कि मानव का मन ही उसे संसार के बन्धन में बाँधता है और यह मन ही संसार से विरक्त कराकर मोक्ष का दाता होता है। अतएव जिसने अपने मन को वश में कर लिया वही मानव-जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है और वही कर्म, भक्ति और ज्ञान की पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि मन की गति बड़ी चंचल है और जिसमें स्थिरता नहीं है उसके द्वारा किसी महान् कार्य में प्रवृत्त होना असम्भव है, इसलिए सबसे प्रमुख कार्य है मन को स्थिर करना।

मन का जिस काल में जिस इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होता है उस से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है, दूसरी इन्द्रिय से नहीं। मन में अनेक प्रकार की वृत्तियाँ उत्पन्न होती रहती हैं और ये वृत्तियाँ ही मनुष्य के बन्धन का कारण हैं जो इस जीव को किसी प्रकार शान्त नहीं रहने देता।

इस प्रकार इन्द्रियों के वशीभूत हुआ मन विविध प्रकार के संकल्प-विकल्पों में फँसा रहता है और यही मनुष्य के सांसारिक बन्धन का कारण है; अर्थात् जब मन इन्द्रियों के बस में हो जाता है तो इन्द्रियाँ मनुष्य को विभिन्न प्रकार से नाच नचाया करती हैं। इसी के आधार पर मन के पांच प्रकार माने गये हैं—यथा-

---

जो जिसको प्राप्त करना चाहता है, वह उसकी प्राप्ति के लिए अन्य समस्त पदार्थों को बलिवेदी के समर्पण कर देता है और ऐसे उत्तम जिज्ञासु के लिए उसकी प्राप्ति अति ही सुगम है।

(१) **मूढ़ मन**—मूढ मन वह है जिसमें तमोगुण की प्रधानता हो और निद्रा, आलस्य, मोह, प्रमाद आदि दोषों के कारण कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, सत्य-असत्य आदि के जानने की शक्ति जीव में नहीं होती, इसीलिए मूढ़ मन भगवान् की आराधना के योग्य नहीं होता है।

(२) **क्षिप्त मन**—क्षिप्त मन में रजोगुण की प्रधानता होती है, जिससे मन निरन्तर विषयों के चिन्तन और उपभोग में लगा रहने के कारण और भी अधिक चंचल होता जाता है, अतः चंचल मन भी शान्ति-लाभ नहीं कर सकता है, इसलिए यह भी योग के लिए अनुपयोगी है।

(३) **विक्षिप्त मन**—विक्षिप्त मन में कभी-कभी सत्त्वगुण की प्रधानता हो जाती है, अर्थात् प्रेम और वैराग्य से पूर्ण भगवान् की सुन्दर कथाओं का श्रवण करने से कभी-कभी मनुष्य के मन में स्थिरता आ जाती है और उसे भगवान् की असीम अनुकम्पा का ज्ञान हो जाता है, अतः यह मन धीरे-धीरे योग का अधिकारी बन सकता है।

(४) **एकाग्र मन**—जब अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मन स्थिर हो जाए तो इसी को एकाग्र मन कहते हैं और एकाग्र मन से ही शान्ति-लाभ होता है। ऐसा मन बड़े पुण्यों से सुलभ होत है।

धोखा देने वाले का ही संसार में अपयश होता है, खाने वाले के प्रति तो लोगों की प्रायः सद्भावना ही रहती है। अतः धोखा खाकर पश्चात्ताप की आवश्यकता नहीं, बल्कि धोखा देकर तो डूब मरने की…………।

(५) निरुद्ध मन—जिस अवस्था में मन से समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है, यह मन की सबसे श्रेष्ठ अवस्था है, जिसमें साधक के मन में स्वतः किसी भी प्रकार के संकल्प-विकल्प नहीं उठते; अपितु वह मन की समस्त वृत्तियों को भगवान् को अर्पित कर देता है।

इस प्रकार यह मन जब तक इन्द्रियों के वशीभूत होकर संसार में विभिन्न प्रकार के संकल्प-विकल्प किया करता है तभी तक बन्धन का कारण है, लेकिन जब इन्द्रियों को अपने वश में कर लेता है तो संसार में रहता हुआ भी संसार से विरक्त हो जाता है और यही विरक्ति की स्थिति मोक्ष है।

संसार के समस्त पदार्थों व जीवों से हमने जो नाते मान रक्खे हैं उनका सम्बन्ध केवल मन से ही है। यह शरीर तो संसार में अकेला ही आया है और अकेला ही जाएगा, केवल मन ने ही अपनी इच्छानुसार किसी को भाई, किसी को पिता, किसी को माता आदि मान लिया है, इसी कारण मरने के उपरान्त यह माना हुआ सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। तो यह 'मानना' ही बन्धन है, लेकिन यदि हम संसार में रहते हुए भी मन से इस मानने को निकाल दें तो हमारी संसार के विभिन्न पदार्थों और जीवों के प्रति आसक्ति समाप्त हो जाएगी, क्योंकि उन्हें हमने मन से अपना नहीं माना है, यही मोक्ष का कारण है कि संसार में रहते हुए भी हम अपने मन को अपने वश में रखकर संसार से आसक्तिहीन होकर परम पिता परमात्मा के चरणकमलों में अपने मन को लगादें।

इस प्रकार हमारा मन ही बन्धन का और मन ही मोक्ष का कारण है।

जीवन सुलझ जाय तो स्वर्ग और उलझ जाय तो नर्क बन जाता है।

श्रद्धा

श्रद्धा भक्ति और प्रेम का मिला हुआ रूप है। श्रीमद्भगवद्गीता तथा शास्त्रादि द्वारा श्रद्धा को बहुत महत्त्वपूर्ण बताया गया है, क्योंकि श्रद्धा के द्वारा किए गए कार्य बहुत आसानी से सम्पन्न हो जाते हैं, अन्य किसी साधन से नहीं। इसीलिए परम पिता परमात्मा की प्राप्ति का सबसे सुगम उपाय है उनके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा-भावना। श्रद्धा में प्रेम की भावना निहित होने के कारण साधक कभी भी भगवान् के विधान में बुराई नहीं देखता, क्योंकि प्रेम का नियम है कि वह बुराई नहीं देखता, उसकी दृष्टि में सभी सुखद और उचित है।

अपनी श्रद्धा के कारण ही व्यक्ति सब जगह लाभ उठाता है। किसी महात्मा से यदि कोई प्रभावित होता है तो केवल अपनी श्रद्धा के कारण ही। एक पत्थर की या धातु की बनी भगवान् की मूर्ति को यदि भगवान् मानकर उस पर श्रद्धा करते हैं और उसमें ईश्वर को प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं तो वही हमारे लिए लाभप्रद हो जाती है, किन्तु यदि उसमें श्रद्धा नहीं है तो वह केवल एक पत्थर की मूर्ति ही है। इसी प्रकार मनुष्य किसी भी पदार्थ से अपनी श्रद्धा के आधार पर लाभ उठा सकता है, अन्यथा नहीं।

दूसरे जिस पर भी हमारी श्रद्धा हो जाती है उसे हम महान् मान लेते हैं और उसकी बात को पक्षपातहीन समझकर शीघ्र

सुख का सम्बन्ध मन की एकाग्रता से है, मन की एकाग्रता स्वयं के अधीन है; अतः बुद्धिमान पुरुष प्रतिकूल परिस्थितियों में भी दुःखी नहीं होता, बल्कि सुखी रहता हुआ हर परिस्थिति का स्वागत करता है।

ही उससे प्रभावित हो जाते हैं, लेकिन श्रद्धा के अभाव में ऐसा सम्भव नहीं होता, इसलिए श्रद्धा करने वालों का विरोध नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे किसी न किसी गुण या विशेषता को देखकर या अनुभव करके ही प्रभावित होते हैं।

भगवान् के गुण-गान तो सभी महान् पुरुष करते हैं और प्रत्येक मनुष्य गीता, रामायण आदि के द्वारा भगवान् के चरित्रों के बारे में जान लेता है, किन्तु जिस माध्यम से वह भगवान् के भाव में लीन हो सके वही माध्यम (महापुरुष) उसकी श्रद्धा का पात्र बन जाता है और उसी का जीवन पर असर होकर मानव अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल हो जाता है। इसीलिए कहा गया है कि महात्मा पुरुषों के वचनों पर श्रद्धा करने से जीव का कल्याण हो जाता है।

तीसरे यदि किसी को न भगवान् का साक्षात्कार हुआ है और न कोई महात्मा ही मिला है, तो शास्त्रादि की बताई हुई बातों पर ही श्रद्धा कर उनका आचरण करने से भी मानव का कल्याण अवश्य हो जाता है, क्योंकि श्रद्धा कभी गलत मार्ग प्रदर्शित नहीं करती है।

चौथे भगवान् के भक्तों पर भी श्रद्धा करने से मानव का कल्याण हो जाता है। इस प्रकार श्रद्धा द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य अच्छा ही होता है लेकिन श्रद्धा-भावना में कहीं किसी प्रकार की त्रुटि न आनी चाहिए। अतः श्रद्धापूर्वक विश्वास के साथ भगवान् का भजन करने से अनर्थों से छुटकारा मिल जाता है और साधक का हृदय स्फटिक मणि के समान शुद्ध हो जाता है।

इस प्रकार श्रद्धा से किया हुआ कार्य कल्याणकारी ही होता है इसीलिए भगवान् के भजन में श्रद्धा को विशेष महत्त्व-पूर्ण स्थान दिया गया है।

भक्त-गर्वहारी

परम कृपालु करुणामय दीनबन्धु भगवान् अपने भक्त के अभिमान को सहन नहीं कर सकते, जैसे माँ अपने बच्चे के फोड़े को आपरेशन के द्वारा ठीक करा देती है। डाक्टर के सामने माँ बच्चे का हाथ आगे करके कहती है—इसे काट डालो। बच्चा समझता है, माँ मेरा हाथ क्यों कटवा रही है, उसे पता नहीं माँ की दृष्टि में बच्चे के जीवन का हित (लोभ) छिपा हुआ है। माँ को बलपूर्वक डाक्टर के सामने हाथ कटाते हुए देखने वाला बच्चा माँ के सामने लाख रोता-बिलखता रहे, किन्तु माँ तो आखिर माँ है; उसे बच्चे के रोने की चिन्ता नहीं करनी, उसे तो बच्चे के जीवन की चिन्ता करनी है।

कुम्हार जब मिट्टी के घड़े को ऊपर से बार-बार चोट मारता है तो भी कुम्हार एक हाथ घड़े के अन्दर रखता है कि कहीं घड़ा टूट न जाए, जिसको उसने बड़े प्रेम से बनाया है। ठीक इसी प्रकार से परमपिता भगवान् ने जब नारद जी में कामदेव-विजय का अभिमान देखा; तो विवाहाकांक्षा पैदा कराके, अपमानित-सा करके उनका अभिमान दूर कर दिया और जब गरुड़ में अभिमान देखा तो काकभुशुण्डि जी के समीप भेजकर दूर कर दिया। इसी प्रकार जब-जब भी और जिस-जिस जगह में भी भक्तों में अभिमान देखा, उसी समय दूर कर दिया, क्योंकि भगवान् की तो पावन प्रतिज्ञा है कि—

जिसे मन की शान्ति मिली है वह किसी बाहरी सुख की अपेक्षा नहीं रखता है। अशान्त मन वाला पुरुष सुख के आने पर प्रसन्न अवश्य होता है किन्तु जाने पर दुखी भी विशेष होता है।

"करहु सदा तिनकी रखवारी,
जिमि बालक राखेहि महतारी ।"

"न मे भक्तः प्रणश्यति"

नष्ट होने की प्रथम सीढ़ी है— अभिमान और उद्धार की प्रथम और अन्तिम सीढ़ी है—निराभिमान। भगवान् भक्त के अभिमान को युक्ति से ही दूर कर देते हैं, जिससे उसके उद्धार में कोई बाधा न पहुँचे, क्योंकि वह जिम्मेदार जो हुए।

ब्रज के ऊपर जब इन्द्र ने कोप किया तो लीलाधारी मधुसूदन ने कहा 'कोई डरने की बात नहीं है, हम सभी लोग गोवर्धन पर्वत के नीचे छिप जाएँगे, तो वर्षा का कोई भी प्रभाव हमें विचलित नहीं कर सकेगा।' सभी गोप, ग्वाल-बाल, वृद्ध, युवा, स्त्री-पुरुष वर्ग ने भगवान् गोपाल की हाँ में हाँ मिलाई और प्रभु के साथ गोवर्धन के समीप चले गए। वर्षा में भीगते हुए ग्वालों ने भगवान् से पूछा कि यहाँ कहाँ पर छिपने की जगह है ? तो भगवान् ने हँसते हुए कहा—'देखो भाई, सभी लोग साहस से काम लो तो अभी गोवर्धन पर्वत को ऊपर उठालें और आनन्द-पूर्वक हम लोग इसके नीचे निश्चिंत और निर्भीक होकर रहें। यह बड़ा विशाल पर्वत हमारी पूर्ण-रूप से रक्षा करेगा।' जगत्-रक्षक की यह बात सभी ग्वाले बड़े भाव से सुन रहे थे। भगवान् गोपाल के साथ सभी ने जोर लगाया, प्रभु ने भी कनिष्ठिका अँगुली को

संसार सागर को पार करने के लिए भगवत्-नाम का आश्रय लेना ऐसा ही आवश्यक है जैसा कि जल से पूरित सागर को पार करने के लिए पोत (जहाज) का होना।

लगा लिया। गोवर्धन के नीचे सभी ग्वालों ने अपनी लाठियाँ लगा रखी थीं। गोपियाँ अपने-अपने कर्म में संलग्न थीं, पुरुष-वर्ग बालक से वृद्ध तक गोवर्धन को थामे हुए था। देवता भगवान् की अजब अनोखी लीला देखकर प्रसन्न हो रहे थे।

काफी समय व्यतीत हो गया, ग्वालों के हाथ दर्द करने लगे। वृद्ध भी थक चुके थे, सभी के मन में एक भावना थी कि हम तो वास्तव में बहुत बड़े शूरवीर हैं, जोकि गोवर्धन को इतना ऊँचा उठा लिया है। खैर, थके हुए एक ग्वाल ने दूसरे ग्वाल से कहा—देखो भाई मेरा हाथ दर्द कर रहा है, मैं जरा अब दूसरा हाथ बदलूँगा, तुम सँभालकर रखना। इसी प्रकार एक ने दूसरे से, दूसरे ने तीसरे से, तीसरे ने चौथे से कहा। भगवान् मुस्कराते हुए सभी लीला देखते रहे कि ग्वाल-बाल अज्ञानवश अपने आपको गोवर्धन का गिरिधारी मान रहे हैं। जीव भी अपने आप ही को कर्त्ता मान बैठता है और कहता है कि मैं न रहा तो; अगर मैं ऐसा न करता तो? मानव! जब तू इस जगत् के अन्दर नहीं था, तब भी जगत् का कार्य चल रहा था और जब तू इस जगत् से चला जाएगा तो भी जगत् का कार्य ठीक इसी प्रकार से चलता रहेगा। मानव! एक मास के लिए यदि तू रोग-ग्रस्त हो जाए तो क्या घर में सब्जी नहीं बनेगी? हवाई जहाज के यात्री, यात्रा न करेंगे? बाजार में कपड़े नहीं बिकेंगे? क्या लोग भूखे मर जाएँगे? यह तेरा अपना ही ख्याल है। उस जगह परमपिता ने इस पृथ्वी का कार्य

मुक्ति के चार मार्ग हैं—प्रथम सत्संग, द्वितीय कामनाओं का त्याग, तृतीय भगवद्-स्वरूप का चिन्तन और चतुर्थ निष्काम भावना से किए हुए कर्म।

स्वयं ही वहन किया हुआ है। तू तो व्यर्थ ही अपने को कर्त्ता मान बैठा है। अस्तु, गोवर्धन के नीचे बालक, युवा और वृद्धों का यह कार्य चलता रहा कि तुम सँभालना मैं हाथ बदलूँगा, तुम सँभालना मैं हाथ बदलूँगा। हँसते हुए केशव ने कहा भाई अब तुम सभी सँभालना मैं भी अँगुली बदलूँगा।

गर्वहारी प्रभु की बात माँ यशोदा जानती थीं, उन्होंने कहा-कृष्ण! सबके हाथ लाखों बार बदलें, कोई हानि नहीं, तुम अपनी अँगुली न बदलना वरना सभी ब्रज समाप्त हो जाएगा। यह सुनना था कि ग्वालों ने प्रभु के चरणों में सिर रख दिया— ओ अन्तरयामी! यह क्या लीला है? हमारे अभिमान को आपने दूर कर दिया। प्रभु बड़े-बड़े ऋषि जब आपकी माया से अभिमानित हो जाते हैं तो हम ग्वालों का क्या है? मेरे प्रभु! हमें क्षमा प्रदान करें। त्राहिमाम्-त्राहिमाम्-त्राहिमाम् के नारे गूँज गये। भक्तवत्सल यशोदा-नन्दन ने कहा ग्वालो! केवल हम तो भक्त-गर्वहारी हैं और उसी के लिए यह पावन लीला हुई है।

उर अंकरेउ वर्ग तरु भारी।
करुणानिधि मन दीख बिचारी॥
बेगि सो मैं डारियऊ उखारी।
पन हमार सेवक हितकारी॥

यह सब प्रभु की जीव पर अपार कृपा है। जब-जब जीव को गलत रूप से अहम् भाव की स्फुरणा होती है तब-तब

अगर वैराग्य की इच्छा हो तो अपाहिजों, रोगियों या लाशों को नियमित रूप से देखिए तो एक-न-एक दिन अवश्य ही संसार से वैराग्य उत्पन्न हो जाएगा।

अन्तरयामी प्रभु भक्त के अभिमान को नष्ट कर भक्त को सुख और आत्मीयता प्रदान करते हैं। ऐसे परम-कृपालु भगवान् की दयालुता से विमुख प्राणी अपने आपको चाहे सुखी माने किन्तु उसे सुख के आभास का भी पता नहीं।

करुणावत्सल भगवान् द्वारिकापुरी में रह रहे थे। सभी रानी, पटरानी, यादवकुल सभी भृत्य आदि सुखी थे। परम-कृपालु भगवान् तो सभी को मान देते ही हैं, वह यादवों से कहते कि तुम बड़े बलवान हो, तुम्हारे जैसा भ्रातृवर्ग इस मानवलोक में दुर्लभ है। गरुड़ से प्रभु कहा करते—"गरुड़! मेरे यश का कारण एकमात्र तुम्हीं हो, तुम्हीं मुझे इतनी द्रुति-गति से समयानुकूल पहुँचाते हो।" प्रभु सत्यभामा से कहते—"प्रिय सत्यभामा, तुम्हारी जैसी सर्वगुण-सम्पन्न पत्नी जिसे प्राप्त हो, जगत में उसका यश, उसकी अमर-कीर्ति तो सहज ही सिद्ध है।" सुदर्शन-चक्र की प्रशंसा के तो प्रभु पुल ही बाँध देते, कहते—"भैया सुदर्शन, तुम्हीं ने तो द्वारिका की रक्षा कर रक्खी है वरना इस विश्व में तो बड़े-बड़े दानव हैं, जोकि द्वारिका को नष्ट कर डालते, हम लोगों को तंग कर डालते।" भगवान् के मुख से ऐसे शब्द सुनकर सभी के मन में धीरे-धीरे अभिमान अंकुरित होने लगा। उन्होंने आपस में बैठकर अपनी प्रसंशा की डींग हाँकना प्रारम्भ कर दिया। गरुड़ जी का तो कहना ही क्या था, हर समय कहते कि दुनियाँ में सबसे तेज चलने वाला और भगवान् श्रीकृष्ण के कार्यों को सिद्ध करने वाला तो मैं ही हूँ। अगर मैं न होऊँ तो भगवान् का कार्य कैसे हो ? भक्तों की

प्रेम का मार्ग अत्यन्त कण्टकाकीर्ण है, इसमें तो वही आ सकते हैं जोकि हर पल मरने को तत्पर रहें।

रक्षा कैसे हो ? दुष्टों का नाश कैसे हो ? जब दुष्टों के नाश की बात आती तो सुदर्शन चक्र बीच ही में बोल उठता—'अगर मैं न होता तो ग्राह को कौन मारता और गजराज की रक्षा कैसे होती ?' उसने गर्व के साथ सिर ऊपर करके कहा 'अगर मैं ही न होता तो शिशुपाल को कौन मारता, जिसने प्रभु का इतना अपमान किया था ?' गर्वहारी भगवान् तो सभी के मन की जानते हैं किन्तु·······! यादवों ने कहा 'हमारे द्वारा ही तो भगवान् श्रीकृष्ण रक्षित हैं और हमारे द्वारा ही यहाँ की सम्पत्ति भी रक्षित है। जगत में हमारे जैसा बली कौन होगा ?' उधर से सत्यभामा जी ने भी कहा 'सबसे अधिक प्रेम भगवान् उससे करते हैं जिसमें सबसे अधिक गुण हों, आप सबमें भी गुण तो हैं किन्तु गुणों की निधि तो मैं हूँ, भगवान् हर समय महल में मेरा ही गुणगान किया करते हैं। मैंने भी भगवान् के लिए तप किया था, किन्तु मुझे तो अब पता लगा है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने मेरे लिए भी बड़ा प्रयत्न किया, क्योंकि जगत में मेरी जैसी गुणवाली पत्नी भी तो नहीं मिल सकती ?' गर्वहारी प्रभु ने विचार किया कि बाहर के राक्षस तो मारे गये लेकिन अब तो घर में रहने वाले लोगों के अन्दर भी राक्षसी वृत्तियाँ आ गई हैं,जोकि इन्हें भी राक्षस बनाकर छोड़ेंगी। प्रभु ने गरुण को आज्ञा दी कि गरुणजी कुबेर के बगीचे पर हनूमानजी रहते हैं, आप उन्हें शीघ्र ही द्वारिका लेकर आ जायें। हनूमानजी से कहना कि भगवान् राम आपको द्वारिकापुरी में याद करते हैं। गुरुड़जी ने प्रभु की आज्ञा शिरोधार्य की और ये कहकर चल दिये कि जब बड़े-बड़े काम मैंने क्षण भर में कर दिये तो यह तो

प्रत्याहार परायण योगी का चित्त भोग्य पदार्थों में नहीं भटकता, केवल एक आत्म-चेतन में ही आनन्दित होता है।

छोटा सा काम मुझे बतलाया गया है ? गरुणजी ने वृद्ध हनूमान जी को 'जै सियाराम, जै-जै सियाराम' धीरे-धीरे गुनगुनाते हुए सुना और उनकी वृद्ध अवस्था पर तरस आ गया कि सचमुच त्रेतायुग के नौजवान हनूमान आज द्वापर में वृद्ध न हों तो क्या करें ? उन्होंने भगवान् राम के याद करने की बात जब हनूमान जी से कही तो हनूमान जी ने कहा कि बस आप चलें मैं प्रभु-कृपा से शीघ्र ही पहुँचा। ऐसा उत्तर गरुड़जी को अच्छा न लगा उन्होंने सोचा कि यह वृद्ध हनूमान भला कैसे अभी पहुँचेगा, पता नहीं भगवान् का कार्य कितना जरूरी है जोकि इनके बिना रुका रहेगा। गरुड़ जी ने आग्रह किया कि मैं आपको पीठ पर बैठाकर ले चलूँगा। मैं वो ही गरुड़ हूँ जो भगवान् को ले जाता हूँ, क्या आपने मुझे पहिचाना नहीं ? हनूमान जी ने 'जै सियाराम जै-जै सियाराम' के स्वर उच्चारण करते हुए कहा आप मुझे कैसे ले चलेंगे, मेरा शरीर तो भारी है, प्रभु का शरीर तो कोमल है, और जिस स्थान पर मेरे स्वामी बैठते हैं, वहाँ मैं कैसे आसीन हो सकता हूँ। गरुड़ ने कहा—भारी-हल्का कोमल-कठोर कुछ नहीं, प्रभु की आज्ञा है कि हनूमान को जल्दी लाओ। अतः तुम्हें मैं जरूर ले चलूँगा। हनूमानजी ने नम्रता से उत्तर दिया—भैया, कैसे ले जाओगे मुझे, मैं भगवान् की जगह तो बैठने से रहा और कोई साधन तुम्हारे साथ चलने का मुझे ज्ञात नहीं होता। गरुड़ ने अभिमान-युक्त शब्दों में कहा—मैं पंजों में दबाकर ले चलूँगा, तुम लटकते चलना। हनूमानजी ने शर्त मंजूर करली, कहा—'अब ठीक है। आप मुझे पंजे में दबाकर ले चलें, बल्कि अच्छा तो यह रहेगा

नाम-जप में जो शक्ति है वह अन्य किसी प्रकार के साधन से प्राप्त नहीं की जा सकती।

कि मेरी पूँछ आप पंजों में आसानी से दबा सकोगे । अतः पूँछ तो पंजों में दबालें, शेष भाग लटका रहेगा, इस तरह मैं आपके साथ चला चलूँगा। गरुड़जी को तो मानो कामधेनु ही मिल गई हो। प्रसन्नचित्त गरुड़जी ने जोर से पंजों के द्वारा पूँछ को झटका दिया। लेकिन वह विशाल लंका-दग्ध करने वाली पूँछ क्या थी, अचल हिमालय ही था।

जितनी-जितनी अधिक कोशिश गरुड़ जी ने की उतनी ही उतनी पूँछ में गुरुता बढ़ने लगी। गरुड़ जी बड़े लज्जित भाव से हनूमान जी को वहीं छोड़कर चल दिये कि अब आप शीघ्र ही पहुँचने का प्रयत्न करना, मैं भगवान् से चलकर आपके आगमन की कहता हूँ। हनूमान जी 'जै सियाराम, जय-जय सियाराम' में फिर संलग्न हो गये।

इस तरफ अन्तरयामी प्रभु ने सुदर्शन चक्र से कहा—"देखो भय्या सुदर्शन, आज नगरी पर कुछ खतरा मालूम पड़ता है और गरुड़ यहाँ पर हैं नहीं। अतः तुम द्वारिकापुरी के ऊपर चक्कर काटते हुए रक्षा करो, कोई भी व्यक्ति अन्दर न आने पाये।" और यादव-वर्ग से भी कहा—"देखो शूरवीर यादवो, इस नगर में बाहर का कोई भी व्यक्ति कुछ नुक़सान न कर डाले, तुम सावधान रहना।"

कितना उत्तम हो यदि मानव महापुरुषों के बताये हुए मार्ग पर चले। जब तक उस मार्ग का अनुसरण नहीं किया जाएगा तभी तक कठिनाइयों का भास होगा लेकिन जब उस पर चलना प्रारम्भ कर दोगे तो ज्ञात होगा कि वह कितना सरल, सुगम और सुखदायी है।

उधर हनूमानजी गरुड़जी के जाने के बाद चले तो स्वयं-सिद्ध हनूमान के पहुँचने में भला विलम्ब क्या था ? देखा तो सुदर्शन पहरेदार की तरह डटकर खड़ा है। हनूमान जी ने कहा "मुझे अन्दर जाना है, भगवान् ने बुलाया है।" सुदर्शन ने कहा "क्या सिर धड़ से अलग कराना चाहते हो ?" हनूमान जी ने कहा "मैं हनूमान हूँ।" सुदर्शन ने कहा "कोई मान हो, मुझे तो अपना कर्त्तव्य पूरा करना है।" वाद-विवाद बढ़ा तो हनूमानजी ने सुदर्शन को जोर से कुक्षि में दबा लिया। उधर यादवों ने जब देखा कि एक विशालकाय, महाबली बन्दर द्वारिकापुरी में बलपूर्वक अन्दर आया है, तो उन्होंने विचार किया कि सभी लोग मिलकर पूँछ पकड़कर एक-दो-तीन कहने पर इसे जोर से समुद्र में धकेल दें जिससे डूबकर इति हो जाये। हनूमान जी की पूँछ यादवगण पकड़ने लगे। लीलाधारी हनूमान जी ने भी पूँछ खूब बढ़ाई ताकि कोई भी अपनी इच्छा में कमी न रख सके। यादव-मण्डल ने जब एक-दो कहने के बाद 'तीन' कहा तो पूरा यादव-मण्डल समुद्र में दूरी पर गोते खा रहा था। पवनपुत्र हनूमान अब भवन में अन्दर जब पहुँचने लगे तो यादवेन्द्र भगवान् धनुषधारी राम बन गये और पास में बैठी सत्यभामा से कहने लगे कि जल्दी सीता बनो वर्ना हनूमानजी आज द्वारिकापुरी को समाप्त कर डालेंगे। वो कहेंगे कि एक पत्नीव्रतधारी राम ने आज अपने समीप किसे बिठाल

यदि तुम्हें विश्वास करना है तो भगवान् पर करो। संसार के किसी भी जीव पर विश्वास करने का परिणाम दुखदायी ही होगा। अतः शीघ्र ही भगवान् पर विश्वास करना प्रारम्भ करदो ताकि दुःखों तथा ठोकरों से बच सको।

लिया है। बिचारी सत्यभामा तो सीता बन नहीं सकती थीं। भगवान् ने कहा "रुक्मणी जल्दी करो।" रुक्मणी ने आकर सीता का वेश धारण किया। हनूमानजी ने 'सियावर रामचन्द्र की जय' से महल गुँजा डाला। सत्यभामा बड़ी लज्जित अवस्था में यह सभी कुछ देखती रहीं। इतने में गरुड़ जी आगये, उन्होंने हनूमानजी को बैठा देखा तो बहुत लज्जा आयी कि यह मुझसे भी पहिले आगये ? भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा "हनूमानजी, द्वारिका में तो सुदर्शन पहरा दिया करता है आप कैसे आ गये ?" तुरन्त ही हनूमानजी ने सुदर्शन को कुक्षि से निकाल कर छोड़ दिया और स्वयं भगवान् के चरण दबाने लग गये। यह देखना था कि सुदर्शन भी बहुत लज्जित हुआ और जब यादवों ने किसी तरह समुद्र की दूरी पार की और थके हुए भगवान् के पास पहुँचे तो देखा कि जिसमें इतना बल है कि हमें समुद्र में धकेल दिया वो तो भगवान् के चरण दबा रहा है।

भगवान् ने कहा यह सभी लीला तुम भक्तों के लिए ही थी कि कहीं किसी भी भक्त का अभिमान न रह जाये वरना वह दुख का कारण होगा। परमदयालु भक्त-रक्षक, अकारण करुणावरुणालय दीनबन्धु भगवान् की और उनके भक्तों की अनेक ऐसी ही लीलाएँ हैं जो कि मानव के श्रवण से भी अभिमान को दूर करने में समर्थ हैं।

किसी इच्छा का उत्पन्न होना बुरा नहीं, अपितु किसी अहितकारी इच्छा के अनुरूप कर्म करना बुरा है।

क्षमा की मूर्ति

भगवान् जहाँ पर दयासिन्धु भक्तवत्सल हैं वहाँ क्षमा आगार भी हैं। अस्तु; दयालुता और कृपालुता तो उनका मुख्य स्वभाव ही है। यह लोक-प्रसिद्ध बात है कि जो जैसा होता है उसे वैसा ही मिलता है। सुना जाता है—

> "पानी में पानी मिले, मिले कीच में कीच।
> अच्छे को अच्छा मिले, मिले नीच को नीच॥"

तात्पर्य यह हुआ कि अगर भगवान् से मिलना है तो उसके ही जैसा बनना पड़ेगा। भिखारी से कभी भी राजा मिलता नहीं, कुछ भिजवा सकता है, दिला सकता है। राजा उससे प्रेम नहीं कर सकता है। उसे अपने साथ बैठा नहीं सकता, उस पर दया कर सकता है, उसकी निर्धनता दूर कर सकता है।

अगर भगवान् से मिलना है तो उसके जैसा बनना है या उसे अपना बनाना है तो उसके जैसे ही बन कर उसका बना जा सकता है, उसे अपना बनाया जा सकता है। लेकिन उसका जैसा विशाल हृदय, उसकी दयालुता, उसकी जैसी महानता, क्षमता, धैर्य आदि गुण हों तभी तो कोई उसे अपना बना सकता है या वह अपना बन सकता है। अगर कोई भिखारी कहे–"हे राजन्! मैं तुम्हारा हूँ।" राजा कहेगा "बहुत से भिखारी मुझे अपना मानते हैं लेकिन मैं तो किसी को भी अपना नहीं मानता हूँ, जिस दिन किसी को अपना मानूँगा उसी दिन उसके हाथ ये यह भिक्षा का पात्र छुड़ा दूँगा, अथवा वह जिस दिन भिक्षा

जो समय बीत गया उसे भूल जाओ, जो समय है उसका सदुपयोग करो और भविष्य की चिन्ता में व्यर्थ ही निमग्न न रहो।

का पात्र छोड़कर मेरे जैसा बन जाएगा तो मैं उसे तुरन्त ही अपना मान लूँगा।"

तात्पर्य यह हुआ कि भगवान् के जैसे गुण हैं वैसे ही गुण जब जीव के अन्दर आ जाँय तब ही यह जीव उस परब्रह्म परमेश्वर के सानिध्य के योग्य होता है।

जितने भी भक्त आज तक हुए हैं, उनमें क्षमा, दया और उदारता की प्रधानता तो अवश्य ही पायी गई है। इसके अतिरिक्त अन्य भी बहुत से गुण प्रायः भक्तों में हुआ ही करते हैं।

भगवान् विष्णु अथाह शान्त क्षीरसागर में और भगवान् शंकर अचल महाशीतल हिमालय में निवास करते हैं। अतः जिन्हें अपने हृदय में भगवान् को बसाना हो, उन्हें हृदय शीतल और अचल बनाना चाहिए। भगवान् विष्णु के हृदय में महर्षि भृगु ने लात मारी थी और भगवान् ने उनके चरण पकड़ कर कहा था—"हे प्रभो ! हे महर्षि ! आपके कोमल चरणों में दास की कठोर छाती से वेदना तो नहीं हो रही है।" तो सर्वसमर्थ प्रभु में जब इतनी क्षमा है, तो उनके भक्तों में कितनी क्षमा होनी चाहिए?

एक बार भक्त एकनाथजी गोदावरी का पावन स्नान करके लौट रहे थे कि उनके उत्कर्ष को न चाहने वाले

कैसी भी सुखद एवं दुखद परिस्थिति क्यों न हो, जीव पर भगवान् की कृपा तथा प्यार सदा बना रहता है, यह दृढ़ निश्चय एवं विश्वास ही भक्त को भगवान् से मिला सकता है।

एक व्यक्ति द्वारा नियुक्त एक सज्जन ने उन पर थूक दिया। एकनाथजी ने लौटकर फिर स्नान किया और जब उसी स्थान के समीप से निकले तो उसने फिर दुबारा थूक दिया और वह पुनः गंगा-स्नान को चले गये। इसी प्रकार लगातार सौ बार उस पुरुष नाम के राक्षस ने उन पर थूक-वृष्टि की और एकनाथ जी ने उतनी ही बार गोदावरी-स्नान किया।

अन्त में उनकी क्षमता देखकर उस दुष्ट का हृदय पिघल गया। उसने उनसे क्षमा माँगी तो एकनाथजी ने बताया कि भय्या तुमने तो मेरे ऊपर इतना उपकार किया है कि मैं सिर्फ एक ही बार गंगा-स्नान किया करता था, किन्तु आज तो तुमने मेरी पतित-पावनी माँ के समीप सौ बार मुझे भेजकर पावन ही बना दिया है।

ठीक इसी प्रकार भक्त तुकाराम ने घर से गन्ने लिए और उन्हें बेचने को जैसे ही चले तो रास्ते में देखा कि भक्त मंडली कीर्तन में मग्न है। भक्त तुकारामजी भी गन्ने एक तरफ रखकर कीर्तन करने लगे। संकीर्तन की समाप्ति पर भक्तों ने प्रसाद चढ़ाया तो तुकारामजी ने भी गन्ने भोग में रख दिए। भक्तों ने गन्ने बाँट दिए। भक्तजी को एक गन्ना बचा हुआ मिला, बाकी सबने टुकड़े-टुकड़े लिए। एक गन्ना लेकर तुकाराम जी घर पहुँचे तो पत्नी ने पूछा—"पैसे कितने लाए ?" उन्होंने नम्रता से उत्तर दिया—"देवी, आज तो सभी भगवान् के……" बस इतना सुनना था कि पत्नी ने गन्ना लेकर तुकारामजी की

संसार का कोई ऐसा मार्ग नहीं जिसे कई व्यक्ति साथ न चल सकते हों बस ईश्वर-प्राप्ति का ही मार्ग ऐसा है, जिस पर व्यक्ति को अकेले ही चलकर लक्ष्य सुलभ होता है।

पीठ में मारा। गन्ने के दो टुकड़े हो गये। भक्त ने एक टुकड़ा पत्नी को देकर कहा—"देवी सभी भक्तों ने भी एक-एक टुकड़ा लिया था। इस गन्ने के मुझे दो टुकड़े करने पड़ते, लेकिन मेरा काम तुम्हीं ने कर दिया।"

ऐसी क्षमा की प्रतिमाओं को ही तो भगवान् मिलते हैं, जिनमें क्षमा, दया, सत्य आदि गुण भरे हैं। भगवान् ही जब क्षमा निधान हैं तो क्यों न क्षमावान् को मिलें? क्योंकि प्रसन्नता से शराबी शराबी को मिलता है, जुआरी जुआरी को बड़े शौक से मिलता है, सज्जन सज्जन को बड़े सत्कार से मिलता है, ज्ञानी ज्ञानी को बड़े सम्मान से मिलता है, इसी प्रकार गुणागार भगवान् भी सद्‌गुणयुक्त जीव को बड़े ही प्रेम से मिलता है।

भगवान् मेरे हैं

एक नवदम्पति किसी एक देश से दूसरे देश को पानी के जहाज (Ship) से जा रहे थे। पति भगवान् का अनन्य भक्त था। प्रातःकाल के समय पति अपनी सीट पर बैठकर माला से जप करने में संलग्न था। इतने में ही उस कमरे में एकाएक लाल बत्ती हो गई और घंटी बजने लगी। जहाज के चालक ने डरे हुए और दबे हुए स्वर में घोषित किया कि जहाज के एक इंजन में आग लग चुकी है और दूसरा इंजन काम नहीं कर रहा है, अब जीवन की आखिरी घड़ियाँ हैं। बस इतना सुनना था कि

सदा प्रसन्न रहने वाले व्यक्ति का अन्तःकरण ही भगवान् के रहने का स्थान हो सकता है।

लोगों के मुँह से दुखभरी आह निकल गई, करुणा देवी ने नृत्य आरम्भ कर दिया। लोग अपने सम्बन्धियों को स्मरण कर-करके रोने लगे। इधर से उधर अपने साथियों को ढूँढ-ढूँढकर गले लगाने लगे। प्रलयकालीन दृश्य बन गया। धैर्यवान लोग अपने-अपने अनुभव लिखकर लकड़ी के बक्से समुद्र में फेंकने लगे ताकि दुनियाँ के लोग कुछ लाभ उठा सकें।

इधर वो पति महोदय नेत्र बन्द कर माला जप रहे थे, बिचारी पत्नी बड़ी व्याकुल हो रही थी कि ये महाराज नेत्र खोलें तब तो कुछ कहा जाय। पत्नी से प्रतीक्षा न हो सकी उसने कहा—"देखिये, सुनिये जहाज में आग लग चुकी है, अब हमारा आखिरी समय है।" पति मौन ही रहा। पत्नी ने हाथ को झटका देकर कहा-"सुनिये ना, जहाज में आग लग चुकी है और आप भगवत्-भजन में ही तल्लीन हैं। आप नेत्र बन्द किये बैठे हैं, देखिए ना ? सुनिये ना ?" पति फिर भी चुप बैठा रहा। पत्नी का धैर्य टूट गया। उसने फिर पति के सारे शरीर को अपने दोनों हाथों से पकड़ कर हिलाया, कहा-"सुनिये, न ?"......पति ने माला एक तरफ रखदी और तुरन्त सीट से उठकर तलवार को म्यान से निकाल कर जोर से ऊपर उठाया और वार सा किया, किन्तु जब हाथ पत्नी की गर्दन के समीप आया तो उसने धीरे से तलवार पत्नी की गर्दन पर रख दी। पत्नी अचल बैठी रही। पति ने पूछा "बताओ तुम डरी नहीं ?" पत्नी ने कहा-"डरने की क्या बात थी, मैं जानती हूँ कि मेरे ऊपर तुम्हारी तलवार नहीं चल सकती, तुम मुझे

भक्त वही है जो संसार के प्रत्येक जड़-चेतन में अपने आराध्य देव की ही झलक देखता है।

मार नहीं सकते डरा ही सकते हो, क्योंकि तुम मेरे हो और मैं तुम्हारी हूँ।"

पति ने कहा "भोली, पागल···जैसे तुम्हें इस बात का विश्वास है, उसी प्रकार मुझे भी भगवान् पर पूर्ण विश्वास है, (ऊपर अँगुली उठाकर) वह मेरा है और मैं उसका हूँ। वो भी मुझे मार नहीं सकता, डरा सकता है। खतरे की घण्टी बजनी बन्द हो गई। सूचना मिली कि जहाज ठीक हो गया।

विश्वास में महान् शक्ति है। जो भगवान् को अपना मानते हैं उन्हें कभी भी अशान्ति और भय नहीं होता है या अपने आपको भगवान् का मानने वालों को भी अशान्ति और भय छू भी नहीं सकता।

भगवान् सबको देता है

एक दानी भक्त सेठ के भण्डारे में एक नास्तिक व्यक्ति भोजन करने बैठ गया। जब सेठ को ज्ञात हुआ तो उसने उसे तुरन्त बाहर निकाल दिया। रात्रि के समय सेठ को स्वप्न हुआ, 'अरे पगले ! मैंने जिसे सत्तर वर्ष तक भोजन कराया, कभी भी एक नागा न की। लेकिन तुम मेरे बनकर भी उसे एक दिन का भोजन न दे सके। मैंने तो उसकी नास्तिकता से कभी भी संकोच न किया, किन्तु तुमने एक दिन भी उसके साथ न निभाया। अगर तुम मेरे होना चाहते हो तो मेरे ही जैसे उदार एवं विशाल हृदय बनो।'

सत्संग से भगवान् को जानने और उसे प्राप्त करने की इच्छा बढ़ती है तथा संसार से भगवान् में उदासीनता की भावना बढ़ती है।

जगत में कौन है निर्दोषी

जिसने कभी भी जीवन में गलती न की हो, वही व्यक्ति दूसरे को दण्ड देने का अधिकारी है।

एक दुराचारिणी स्त्री को जब समाज ने पत्थर मार-मारकर दुर्दशायुक्त प्राण-दण्ड घोषित किया तो सभी लोग पत्थर उठाकर मारने को तैयार थे। महात्मा ईसा ने कहा कि सुनो भाई ! सबसे पहला पत्थर इसको वही मारे जिसने जीवन में अभी तक कोई अपराध न किया हो। इन शब्दों ने सभी के पत्थरयुक्त हाथ नीचे कर दिये। Only God is perfect and all others are imperfect.

सच ही तो कहा था

मानव जीवन-यापन करने वाले जन्म-मृत्यु, सुख-दुख, संयोग-वियोग, हानि-लाभ आदि में से हम सभी लोग एक सुन्दर पहलू को ही चाहते हैं। पर अनचाहा गलत पहलू भी हमारे जीवन में उतना ही स्थान बनाए रखता है जितना कि सुन्दर पहलू......तो विचारणीय दृष्टि से ज्ञात होता है कि हम स्वतन्त्र नहीं और स्वतन्त्रता का अभाव अस्वतन्त्रता (गुलामी) का सबूत है।

एक सन्त कहीं नगर से बाहर घूम रहे थे कि अचानक एक यात्री (पथिक) ने पूछा कि ओ भाई ! जब सन्त ने न

संसार के किसी भी बन्धन से दुखी न होओ। बस ! अपने जीवन को आनन्द-कन्द भगवान् के हाथों में सौंप दो। वह स्वयं तुम्हें बन्धन-मुक्त कर देंगे।

सुना तो उसने समीप जाकर पूछा—'ए भाई! भाई, बात तो सुनो।' सन्त ने कहा—"बोलिए बन्धु क्या आज्ञा है?" सन्त की बात ने उसमें कुछ आत्मीयता की सी भावना जागृत करदी। उसने सन्त से पूछा कि बस्ती किधर है? सन्त ने कहा कि इधर है, शमशान घाट की तरफ अँगुली उठाकर कहा। पथिक का तो पारा ही चढ़ गया, उसने क्रोध में पूछा "कौन है तू?" सन्त ने कहा "भाई, जो तुम हो वही मैं हूँ।" पथिक ने पूछा कि "मैं कौन हूँ?" सन्त ने कहा—"अरे भैया वो ही।" यात्री ने पूछा—"वो ही कौन ?" सन्त ने नम्र और भोले भाव से कहा "गुलाम"। यात्री के क्रोध का ठिकाना ही न रहा, उसने सन्त के हाथ को जोर से पकड़ लिया और कहा—चलो तो नगर में, मैं अभी तुम्हें मजा चखाता हूँ।'

नगर के लोगों ने सन्त के पैर छूना प्रारम्भ कर दिया। पथिक को बड़ी लज्जा लगी, लेकिन क्रोध तो शान्त न हुआ। लोगों ने पूछा सन्त जी का हाथ क्यों पकड़ रखा है? उसने कहा मैंने इनसे पूछा था कि बस्ती किधर है, इन्होंने शमशान घाट की तरफ इशारा कर उत्तर दिया कि इधर है। सन्त ने कहा—"भैया ठीक ही तो कहा था। जहाँ पर जाकर लोग बसते हैं, उसी को बस्ती कहते हैं न? देखिए बड़ी-बड़ी कोठियाँ, धन, दौलत, कार, कीमती वस्त्र, जेवर आदि सभी

संसार के प्रति किए गए प्रेम में घटने-बढ़ने की अवस्था आती रहती है, किन्तु भगवान् के साथ किया हुआ प्रेम कभी घटता नहीं, सदैव बढ़ता ही रहता है, किन्तु शर्त यह है कि प्रेम हृदय से किया गया हो।

चीजें छोड़कर लोग श्मशान घाट चले जाते हैं और फिर लौटकर भी नहीं आते हैं, तो जहाँ सभी लोग जाकर स्थायी रूप से बसें, उसी को तो बस्ती कहते हैं।"

पथिक ने सिर हिलाकर समर्थन किया और कहा स्वामी जी की ही बात में गहराई है। पथिक ने पूछा—"आपने मुझे गुलाम क्यों बताया ?" सन्त ने कहा—"भैया, यह सूर्य प्रातः-काल आपने उदय किया है ?"

उसने कहा—"नहीं।"

सन्त ने कहा—"सायंकाल आप अस्त करोगे ?" उसने कहा "नहीं।" सन्त ने कहा—"चन्द्रमा आप उदय करोगे ?" उसने कहा—"नहीं।" सन्त ने कहा—"रात्रि को अंधकार आप करोगे ? उसने कहा- "बिल्कुल नहीं।" सन्त ने कहा- "पृथ्वी आपने बनाई है ?" उसने कहा—"नहीं।" संत ने कहा—"फिर जल तो शायद आपही ने बनाया होगा ?" उसने कहा—"वो भी नहीं।" सन्त ने कहा—"अच्छा......खैर यह जो दो नेत्र हैं, ये तो जरूर आपने बनाए होंगे ?" उसने कहा—"महाराज नहीं।" सन्त ने कहा—"भोजन करने के बाद भोजन से अपने शरीर में खून तो आप ही ने बनाया होगा ?" उसने कहा—"वो भी मैंने नहीं बनाया।" सन्त ने कहा—"यह नाखून तो कम-से-कम आप ही ने इस शरीर से बाहर निकाले होंगे ?" उसने कहा—"नहीं।" सन्त ने कहा—"अच्छा जन्म तो आपने अपने आप ही लिया

प्रेम से पत्थर भी पिघल सकता है। ईश्वर में भी इतना बल नहीं कि वह प्रेमी से छिपे रह सकें।

होगा ?" उसने कहा—"वो भी नहीं।" सन्त ने कहा—"फिर मृत्यु भी आप अपने आप ही कर लेंगे।" उसने कहा "नहीं।" सन्त ने कहा—"बीमारी तो आप अपने आप ही लाते होगे।" उसने कहा—"नहीं।" सन्त ने कहा—"फिर तो मैंने ठीक ही कहा था। तुम तो सुख ही सुख चाहते हो, किन्तु दुःख भी तो होता है। तुम तो लाभ ही लाभ चाहते हो, किन्तु हानि भी तो होती ही है, जब तुम किसी भी बात में स्वतन्त्र नहीं हो तो गुलाम ही तो हुए। मैंने तो सच ही कहा था।"

कोई तो देखता है

गुरु के समीप दो शिष्य एक ही साथ गुरु-दीक्षा के लिए पहुँचे। गुरु ने दोनों ही को सान्त्वना दी और कहा कि दो दिन बाद मैं तुम्हें दीक्षित करूँगा। गुरु ने विचार किया कि परमार्थ पथ के साधक के जैसा अन्तःकरण इन दोनों में से जिसका होगा; वही मेरे उपदेश का अधिकारी होगा। अतः विचार करके गुरु ने दूसरे दिन प्रातःकाल ही दोनों को एक-एक कबूतर देकर कहा कि जाओ, जहाँ पर कोई भी न हो वहाँ पर इन दोनों कबूतरों को मारकर (हिंसा करके) ले आओ। उनमें से एक ने तो तुरन्त ही थोड़ी देर में ही वापिस लौटकर मरा हुआ कबूतर गुरुजी को दिखला दिया और अपनी डींग भी खूब हाँकी कि गुरुजी मैंने वृक्षों के बीच में एक झुरमुट में लेजाकर इस हिंसा कार्य को किया है और मैं पूर्ण विश्वास के साथ कहता हूँ कि मुझे किसी ने भी नहीं देखा।

जिनका ईश्वर से सच्चा प्रेम होता है, उन्हें इन सांसारिक तुच्छ विषयों में आसक्ति हो ही नहीं सकती।

गुरुजी ने शान्तभाव से सब कुछ सुना। समय व्यतीत होता गया। आखिर काफी देर के बाद जब दूसरा शिष्य लौटकर आया तो पहिले शिष्य ने उसकी तरफ देखकर कहा—"क्या तुम्हें कहीं पर भी एकान्त न मिला जो कबूतर को जीवित ही ले आए।" शिष्य ने गुरू को प्रणाम किया और जीवित कबूतर उन्हें सौंप दिया। गुरूजी का भी वही प्रश्न था जोकि प्रथम शिष्य का था……"क्या तुम्हें कहीं पर भी एकान्त न मिला?" शिष्य का उत्तर नकारात्मक था। गुरु ने आश्चर्य से कहा—"क्या कहीं भी एकान्त नहीं था?" उसने कहा "गुरुजी नहीं…" गुरु ने कहा "क्यों नहीं?" उसने कहा "गुरुजी एकान्त तो उसे कहते हैं जहाँ एक का भी अन्त हो जाए, जहाँ कोई भी न हो।" गुरु जी ने कहा—"क्या ऐसी कोई जगह नहीं थी जहाँ कोई भी न हो?" शिष्य ने कहा "नहीं, गुरु जी सभी जगह दो थे। आप तो एक ही की बात कर रहे हैं।" गुरु ने कहा—"दो थे?" उसने कहा "गुरुजी, बल्कि सभी जगह तीन थे।" पास में खड़ा हुआ प्रथम शिष्य हैरान हो गया कि कैसा कम समझदार है यह ……इसे जंगल में जाना चाहिए था जहाँ कोई भी नहीं होता। प्रथम शिष्य से रहा नहीं गया, उसने क्रोध में आकर कहा कि जंगल में जाते, जहाँ कोई भी नहीं था। उसने कहा मैं भी जंगल की ही बातें कर रहा हूँ, वहीं पर तो तीन थे, शहर की जनसंख्या से मुझे क्या तात्पर्य? प्रथम शिष्य ने पूछा—जंगल में तीन कौन थे? उसने कहा "दो तो हम, मैं और कबूतर और तीसरा था अन्तरयामी भगवान्।"

पागल मानव! कुछ लोग तुझे छोड़ गए—कुछ छोड़ने को तैयार हैं, वो भी या तो तुझे छोड़ जाएँगे या तू उन्हें छोड़ जाएगा, तेरा इनका प्रेम कब से कब तक और कैसा?

प्रथम शिष्य ने कहा "तुम भगवान् की बात छोड़ो और तो कोई नहीं था देखने वाला।" उसने कहा कबूतर जो था। प्रथम शिष्य ने कहा वो तो मरने वाला था, देखने वाला कौन था? उसने उत्तर दिया अगर तुम किसी और को नहीं मानते तो न मानो, मैं तो था देखने वाला। हिंसा के संस्कार तो मेरे मन पर पड़ते। मेरे मन में तो अशान्ति होती और गुरु जी का कहना था कि कोई भी न देखे। अतः मैं तो मारते समय हर जगह ही देखता.......! उसे गुरु ने हृदय से लगा लिया। जहाँ हमें पाप करते हुए कोई भी नहीं देखता वहाँ हम स्वयम् जो देखते हैं। अतः वह दुस्संकार तो हमारे मन पर ही पड़ता है, हमारे पाप से और किसी को भी तात्पर्य नहीं तो हमें तो अपने पाप-जन्य संस्कार से हानि जरूर ही होगी।

सादा जीवन उच्च विचार

भारतीय जीवन का एकमात्र आदर्श है "सादा जीवन उच्च विचार।" यही वाक्य भारतीय संस्कृति को अन्य संस्कृतियों से और भारतीय जीवन-आदर्श को संसार के अन्य देशों के जीवन-आदर्श से भिन्नता प्रकट करने वाला एकमात्र कारण है। बनावटी जीवन मृग-मरीचिका के समान है, जिसे मानव-जीवन पर्यन्त प्रयत्न करते रहने पर भी प्राप्त करने में असमर्थ रहता है और उसकी अप्राप्ति ही निराशा एवं दुख की जननी है। सादे जीवन से हमारा तात्पर्य जीवन में ध्येय, महत्वाकांक्षा, प्रयत्न और साहस का अभाव नहीं है; अपितु

विश्व प्रेम अति ही उत्तम है। किसी से द्वेष करना सर्वथा अनुचित है, किन्तु अपने दोषों और दुर्गुणों से द्वेष उचित है।

खर्चीली, फिजूल की ऐसी चीजों का मोहताज न होना, जिनके ऊपर अदूरदर्शी जीवन के आनन्द को निर्भर समझता है।

सादा जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति सत्य, सुन्दर और ठोस चीजों को पाकर ही सन्तोष करता है। वह सांसारिक वैभव, धन, प्रशंसा या झूठे सम्मान की इच्छा को छोड़कर आडम्बर रहित शान्तिपूर्वक अपने सत्यता के मार्ग का अनुसरण करता हुआ कर्त्तव्य-पालन में संलग्न रहता है। वह छोटी-छोटी सारहीन बातों और निरर्थक झगड़ों में अपना अमूल्य समय नष्ट नहीं होने देता, अपितु अपने जीवन को अधिक सरस, सरल, सेवा-भावना से युक्त एवं उच्च विचारों का पुञ्ज बनाने में ही तत्पर रहता है। एक सादा जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति अपने विचारों के प्रति अत्यधिक जागरूक होता है, क्योंकि हमारा व्यक्तित्व विचारों का ही दर्पण है, यदि विचारों में कलुषता आ गई तो जीवन भी उससे अछूता न रह जाएगा। अतः सादा जीवन केवल विचारों की महानता, उदारता एवं सरसता पर निर्भर है और ऊँचे विचारों के लिए सादा जीवन ही आवश्यक है, बनावटीपन विचारों में महानता नहीं ला सकता है।

यदि हम सफल व्यक्तियों के गुणों की सूची बनाकर, उनके आधार पर मानव की श्रेष्ठता की परख करना चाहें, तो ये विशेषताएँ आपकी सूची में सम्भवतः इस प्रकार मानी जाएँगी- श्रम, एकाग्रता, आत्मनिर्भरता, पूर्णता, ईमानदारी, धैर्य, प्रसन्नता, आत्म-विश्वास, काम में लगे रहने की शक्ति, चतुरता

मन के वास्तविक स्वरूप को जान लेने पर मन वशीभूत हो जाता है।

और निश्चय। अब अपना निरीक्षण अपने आप कीजिए और देखिए कि ये विशेषताएँ किस सीमा तक आपमें पायी जाती हैं, किन्तु आत्म-निरीक्षण करते समय आप अपने साथ किसी प्रकार का पक्षपात करने का प्रयत्न न करें अन्यथा विशेषताओं की खोज करने में भ्रान्ति की भी सम्भावना हो सकती है। इस विधि से आपको अपनी त्रुटियाँ स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगेंगी और यदि आप वास्तव में अपना सुधार करना चाहते हैं तो इन कमियों का ज्ञान होते ही उन्हें दूर करने के दृढ़ सुविचार को लेकर शीघ्र ही कार्य शील हो जाइए—बुराइयाँ स्वतः ही दूर होती नजर आने लगेंगी और जीवन अधिक सरस एवं सादा बन जाएगा।

जीवन में सफलता-प्राप्त करने वाला मार्ग न सीधा है और न सरल अपितु यह तो वह कंटकाकीर्ण पथ है, जिसमें पग-पग पर दामन के उलझने का, फटने का भय बना ही रहता है। अगर आप वास्तव में जीवन में सफलता के उपासक हैं तो फिर आपको निश्चित इच्छाशक्ति, हिम्मत और श्रम का आश्रय लेना पड़ेगा। बस, चल पड़ो एकबार अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए, मार्ग के सभी काँटे तुम्हारे निकट आते ही फूल बनकर खिलखिला पड़ेंगे और फिर उनकी मुस्कराहट तुम्हारे मार्ग को और भी अधिक सरल एवं सरस बना देगी। वह व्यक्ति जो अधिक मेहनत से काम करता है उसमें एक स्वाभाविक आकर्षण होता है। ऐसे बहादुरों को संसार अपना मस्तक झुकाता है और लोग उसके पास स्वतः ही खिचे चले आते हैं, जैसे चुम्बक के निकट लोहा स्वतः ही खिचकर चला

महान् की महानता इसी से लक्षित होती है कि वसुधा का प्रत्येक प्राणी उसकी दृष्टि में समान है।

आता है, उसे खींचना नहीं पड़ता। बनावटी जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति अपना सारा समय लोगों से सम्पर्क बढ़ाने में, गप लड़ाने में बेकार ही गँवा देता है। उसे चुप रहने और शान्त रहने की शक्ति का ज्ञान ही नहीं होता। वह जीवन के अमूल्य समय का मूल्य ही नहीं जानता।

न अधिक बोलना ही अच्छा है और न अधिक व्यय करना। इसी प्रकार बिल्कुल चुप रहना और आवश्यता के समय भी व्यय न करना अच्छा नहीं है।

सरल, निष्कपट और शक्तिशाली बनिए। सच्ची सरलता की शक्ति और उच्चता को समझिए और उसे अपने चरित्र, कार्य एवं जीवन की विशेषता बनाइए। इसीलिए संसार को कुछ दे जाने वाले व्यक्तियों का जीवन सरल और निष्कपट रहा है।

इस प्रकार सादा जीवन व्यतीत करने वाले ही संसार का कुछ उपकार करने की क्षमता रखते हैं, किन्तु, साथ ही विचारों की श्रेष्ठता भी अनिवार्य है, क्योंकि जब तक विचार शुद्ध, पवित्र एवं महान् न होंगे, तब तक मानव-जीवन में उपकार सम्भव नहीं हो सकता है। विचार ही हमारे चरित्र की कसौटी हैं,

---

सर्प अपने मार्ग को बिलकुल ठीक समझकर निरन्तर तब तक चलता है जब तक खूब जोर से किसी कठोर वस्तु से टकराता नहीं और जब किसी वस्तु से टकराता है तब रास्ता बदलता है। इसी प्रकार मन सांसारिक विषयों में खूब तेज दौड़ता रहता है। अगर किसी कारण टकराता है तो वैराग्य होता है और अपना रास्ता विषयों की ओर से बदल कर परब्रह्म परमात्मा की तरफ को चुनता है।

क्योंकि जैसा भी विचार मन में एक बार उत्पन्न हो जाता है, वह निश्चित समय के अनुकूल परिपक्व होकर फलीभूत हो उठता है। अब यदि विचार अच्छे हैं, तो उनका परिणाम भी सुन्दर होगा और यदि विचार बुरे हैं, तो परिणाम भी बुरा ही होगा! अतएव मानव-जीवन के लक्ष्य सुख व शान्ति की प्राप्ति के लिए अपने मनरूपी आगार को सुन्दर और महान् विचारों से ही सजाना चाहिए। चरित्र हमारे विचारों का दर्पण है। अतः यदि दर्पण पर मटमैलापन आ जाता है, तो निश्चय ही कुविचारों का उदय हो गया है। यदि दर्पण स्वच्छ है तो निश्चय ही हमारे विचार भी स्वच्छ, सरल एवं महान् हैं।

अतएव मानव-जीवन में विचारों की महानता ही सादा-जीवन बनाने में सहायक है, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को संसार की बाहरी टीमटाम से अपने को बचाकर श्रेष्ठ विचारों का संकलन करना ही अति उत्तम है। भगवान् की प्राप्ति सरलता में है कठोरता में नहीं; भगवान् का मिलन सत्य में है असत्य में नहीं, भगवान् की निकटता सुविचारों में है कुविचारों में नहीं।

प्रार्थना में महती शक्ति है, यदि प्राणी नियम से जीवन में पाँच मिनट भी एकाग्र चित्त बैठकर करे।

× × ×

मन जिसकी कल्पना करता है, वह मिथ्या है और बुद्धि जिसका निश्चय करती है, वह भी मिथ्या है, परन्तु जो मन और बुद्धि की इन कल्पनाओं को जानता है, सत्य तो वही है।

विवेक प्रधान भक्ति

भगवत्-प्राप्ति के लिए कोई शर्त निश्चित नहीं कि जब तक ऐसा न किया जाय, तब तक ईश्वर-प्राप्ति नहीं हो सकती। गृहस्थ-जीवन-निर्वाह करनेवाला व्यक्ति ईश्वर-प्राप्ति चाहे अथवा न चाहे, किन्तु यह अवश्य चाहता है कि गृहस्थ-जीवन के साथी सुखी रहें और जब वह वैराग्य-प्रधान ग्रन्थों का अवलोकन करते हैं अथवा वैराग्य-प्रधान उपदेश सुनते हैं, तो उनके मन की भावना को ठेस लगती है कि न हम ऐसा त्याग कर सकते हैं और न भगवत्-प्राप्ति के अधिकार को ही प्राप्त कर सकते हैं।

जिज्ञासु के हृदय में ऐसा हतोत्साहपन उसके साधन में शिथिलता लाता है। अतः हम उन विवेक-प्रधान भक्तों की तरफ ही दृष्टि डालें, जोकि भक्त तो थे, किन्तु थे गृहस्थी। ऐसे भक्तों के पावन जीवन से हमें विशेष लाभ हो सकता है और यह सम्भव ही नहीं बल्कि सुगमतापूर्वक सम्भव है। ईश्वर की दी हुई वस्तु को ईश्वर की ही वस्तु मानकर उसे अपने काम में लें और भगवत् निमित्त ही कर्म करें, जैसे कि गीता कहती है—

"यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं बन्धनः।"

भगवान् के निमित्त किए हुए.........और अतिरिक्त कर्म बन्धन के हेतु हैं। मन से भगवान् को न भूलें और शरीर से जगत् के सभी कर्म सम्यक् रूप से करता रहे।

खरबूजे की ऊपरी विभिन्नता को देखकर अनेकता की भ्रान्ति हो जाती है, किन्तु वास्तव में यह एक ही है।

एक भिखारी भीख माँगता हुआ जब एक मार्ग से निकला, तो सन्त ने आवाज देकर रोक लिया और कहा चलो हम तुम्हें राजा से मिला देते हैं। भिखारी बड़ा प्रसन्न हुआ कि बस अब इस गुरबत से बिल्कुल ही....। जब राजा के समीप जाकर भिखारी ने प्रणाम किया, तब राजा ने एक सुन्दर गुलदस्ता, जोकि बड़े सुन्दर और कीमती पुष्पों का बना हुआ था, दे दिया। भिखारी गुलदस्ता लेकर बैठ गया और उसकी सुन्दरता निहारने लगा। थोड़ी देर के मौन के पश्चात् राजा ने कहा "मुझे देख, गुलदस्ता क्या देखता है? तेरा लक्ष्य मुझे देखना है कि गुलदस्ता देखना?" भिखारी ने कहा—"जी हुजूर" और गुलदस्ता दूर फेंककर राजा को देखने लग गया। राजा और नाराज हुआ। भिखारी ने फिर गुलदस्ता हाथ में उठा लिया और गुलदस्ता देखने में संलग्न हो गया। राजा ने कहा "मुझे देख।" भिखारी ने फिर गुलदस्ता फेंक दिया......। राजा और अधिक नाराज हुआ और बोला कि गुलदस्ता तुझे किसने दिया था? याचक ने कहा, यह कृपा आपकी हुई थी। राजा ने फिर कहा "हमारी दी हुई चीज को फेंककर तूने हमारा अपमान किया है।"

भिखारी का इतना सुनना था कि गुलदस्ता फिर से उठा लिया। राजा ने कहा—"देख गुलदस्ता तो हाथ में रख और देख मेरी तरफ......!" ठीक विवेकी भक्त की यही हालत है

समाज से तिरस्कृत होने पर, पत्नी से अपमानित होने पर, परिवार से निराश होने पर, धन से असन्तोषी होने पर यदि सत्पुरुष का साथ मिल जाए, तो मनुष्य देवता बन जाता है और यदि दुष्ट पुरुष का साथ मिल जाए, तो मनुष्य राक्षस हो जाता है।

कि दुनिया तो वह छोड़ता नहीं और ईश्वर की ओर उसकी दृष्टि रहती है और कभी देखना बन्द नहीं करता।

अहम् की इति

जिज्ञासु नें बहुत यत्न किया कि भगवद्-दर्शन हों, किन्तु जब भगवद्-दर्शन न हुए तो वह डूबने की तैयारी करने लगा और नदी में जाकर छलांग लगादी। जब श्वाँस घुटने लगा और मृत्यु निकट आगई, तो आकाशवाणी हुई—"डूबो मत, मरो मत……मरते क्यों हो?"

जिज्ञासु नें ऊपर आकर कहा—"अब मैं जरूर मृत्यु को प्राप्त हो जाऊँगा।"

आकाशवाणी नें कहा—"तुम क्यों मर रहे हो?"

जिज्ञासु ने उत्तर दिया—"तुमने मुझे जुदा किया है।"

आकाशवाणी से उत्तर मिला—"मैंने जुदा नहीं किया है।"

जिज्ञासु ने पूछा—"फिर किसने जुदा किया है?"

आकाशवाणी ने उत्तर दिया—"मैंने जुदा किया है, बस यही अहम् है, जिसने भगवान् से जीव को अलग किया हुआ है।"

धर्म की रक्षा के लिए आग लगाना भी धर्म है और अधर्म की रक्षा के लिए माला जपना भी अधर्म है:—

आग लगानेवाला हनूमान भक्त और माला जपनेवाला कालनेमि राक्षस कहलाया, क्योंकि हनूमान का लक्ष्य धर्म की रक्षा और कालनेमि का लक्ष्य अधर्म की रक्षा था।

समर्पण

पावन ग्रन्थ साहब में एक प्रसंग आता है कि······पति से (ईश्वर से) मिलने का मार्ग किसी सुहागिन (ईश्वर प्राप्त सन्त) से पूछना चाहिए। तब वह एक सुहागिन से मिलती है और प्रश्न करती है—

"पति को कैसे प्रसन्न करना चाहिए ?"

उत्तर मिलता है—"आप गँवाइए ताँ सो पाइए ।"

अपने आपको उसके समर्पण से ही वो मिल सकता है। वेद ने मन्त्र कहा—

"नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।"

अन्य कोई मार्ग नहीं—समर्पण ही उस पति-परमेश्वर से मिलने का एकमात्र मार्ग है ।

वरद हस्त लग चुका था

अनन्त कोटि भगवान् का जिस पर वरद-हस्त हो, वह जीव सदा-सदा के लिए अभय हो जाता है ।

धन्य है वह जीव, जिसने भगवान् के कर-कमल का पावन स्पर्श प्राप्त किया है ।

सद्व्यवहार, स्वच्छता और अनुशासन ही ईश्वर का दूसरा रूप है ।

बानर समूह दौड़-दौड़कर बड़े-बड़े वृक्ष, बड़े-बड़े पत्थर समुद्र में लाकर फेंक रहा है। पवनसुत हनूमानजी, नल-नील, जाम्बवन्त, अंगद, मयंद, केहरि, दधिमुख आदि सभी लोग सिन्धु-पुल बाँधने में संलग्न हैं। जो जितना बड़ा पर्वत अथवा पर्वतीय भाग लाकर समुद्र में डाल रहा है वह अपने को भगवान् का तुच्छ सेवक (अनुचर) जानकर प्रसन्न हो रहा है। एक गिलहरी ने भी भगवान् की सेवा का मन में व्रत लिया कि मैं भी इन बानर-भालुओं को सहयोग देकर भगवान् की सेवा का लाभ प्राप्त करूँ।

जल्दी-जल्दी गिलहरी ने अपने मुँह में कंकड़ या लकड़ी का टुकड़ा दबाया और सिन्धु में जाकर छोड़ दिया। कहाँ बानरों की द्रुतगति और कहाँ बिचारी गिलहरी का चलना ? जब बानर तेजी से चलते तो बड़े ध्यान से देखकर चलते कि कहीं गिलहरी पर पैर न रख जाए। कई लोगों ने समझाया भी, लेकिन वह कब मानने वाली थी? खैर, बानरों ने हनूमानजी से शिकायत की और हनूमान जी ने पैर के इशारे से गिलहरी को दूर फेंक दिया।

अब क्या था ? गिलहरी आर्तिहरण, करुणावरुणालय, अशरण-शरण की शरण में जाकर रोने लगी कि "प्रभु कृपा करो, कृपा करो, मुझे हनूमानजी ने ठोकर मारी है।"

भगवान् ने गिलहरी को सान्त्वना दी और कहा—"बोलो, क्या सजा दें हनूमान को ?"

जो मनुष्य ज्ञान और भक्ति के सत्य स्वरूप को नहीं जानते हैं, वे असंख्य जन्मों में भी अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं होते हैं।

गिलहरी ने कहा—"आप मेरे सामने हनूमानजी को पैर से ठोकर लगाएं।"

भगवान् श्री राम ने हनूमानजी को बुलाया। हनूमानजी ने आकर प्रणाम किया। भगवान् ने हनूमान के पैर लगाकर कहा—"जाओ हनूमान अब कभी भी गिलहरी को ठोकर न मारना, वर्ना तुम्हें मेरे पैर की ठोकर खानी पड़ेगी।" हनूमान तो भगवान् के चरण के स्पर्श से अपने आपको धन्य ही, कृतकृत्य ही समझने लगे।

जब हनूमान जी थोड़ी दूर चले ही थे कि गिलहरी ने आकर कहा—"देखो अब मेरे पैर लगाओगे तो भगवान् से मैं कहकर तुम्हारे इसी प्रकार से पैर लगवाऊँगी।"

हनूमानजी तो यह चाहते ही थे, उन्होंने गिलहरी को चार-पाँच बार जल्दी-जल्दी एक ही साथ में पैर लगा दिया। हनूमानजी के पैर लगाने की शिकायत लेकर गिलहरी पुनः भगवान् के समीप गई और कहने लगी कि "अब तो मुझे हनूमानजी लगातार पैर ही लगाते रहेंगे, ताकि आप उन्हें अपने चरणों में ही रखलें। अतः आप कृपाकर कोई और उपाय बतलाइए।"

भगवान् ने आर्त गिलहरी पर अपना पावन कर-कमल वरद हस्त रख दिया।

कैसा वह प्यारा है, जिस एक को ही देख लेने से सबका दर्शन हो जाता है।

गिलहरी प्रसन्नता पूर्वक हनूमान जी के पास पहुँची और कहा—"अब मुझे ठोकर लगाओ तो जानू ँ।"

गिलहरी के कई बार कहने पर भी जब हनूमान जी ने पैर न लगाया तो गिलहरी ने पूछा कि अब पैर से ठोकर क्यों नहीं लगाते ?

हनूमान जी ने कहा—"जिस पर प्रभु का वरद हस्त हो उसे दुनिया की कौन-सी ताकत है जो ठोकर (पैर) लगा सके।"

यह तो समझदार है

महात्मा जारहे थे, साथ में शिष्य वर्ग था। एक सज्जन ने सन्त के सिर पर टोकरी भरकर राख डाल दी।

शिष्य चिल्ला उठे, पकड़ ली उसकी गर्दन। गुरु ने कहा—"बात तो सुनो।"

शिष्यों ने कहा—"महाराज अब हम इसे दण्डित जरूर करेंगे।" गुरु ने कहा—"इसे धन्यवाद तो यह दो कि यह बहुत समझदार है। इसने तो मेरे सिर पर राख गिराई है, वर्ना आज तो मेरे सिर पर अग्नि गिरने वाली थी। यही तो इसकी समझदारी है कि अग्नि की राख बनाकर मेरे सिर पर डाली है, वर्ना सिर ही जल जाता।"

पापी से घृणा और गुणी से प्रेम तो सभी करते हैं, लेकिन वास्तव में तो वह गुणी है जो गुणी के गुण से प्रेम और दुर्गुणी के दुर्गुण से द्वेष करता है, लेकिन गुणी और दुर्गुणी दोनों का ही आदर करता है।

विस्मरण

जिस वस्तु का मूल्य हम कम समझते हैं, उसकी विस्मृति स्वाभाविक है और जिसका मूल्य हमारी दृष्टि में अत्यधिक हो उसके विस्मरण का कभी प्रश्न भी उत्पन्न नहीं होता। हम दुकानों पर छड़ी भूल जाते हैं, छाते भूल जाते हैं, सामान भूल जाते हैं, डायरी भूल जाते हैं, ट्रेनों में मोटे-मोटे नोविल भूल जाते हैं लेकिन ऐसा समय प्रायः नहीं होता, जबकि हम पाँच लाख का चैक भी भूल जायें। उसे हमने बहुत सँभालकर रक्खा है, उसे भूल नहीं सकते; क्योंकि उसका मूल्य हमें ज्ञात है। ठीक इसी प्रकार से जिससे हमारा प्रेम हो उसे भी हम नहीं भूल सकते क्योंकि हमें पता है कि यह कितना मूल्यवान है अथवा इसकी प्राप्ति के लिए कितनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ी है और परम प्रेमास्पद भी वही होता है, जिसकी हमें कीमत अधिक जान पड़े।

अतः जो भक्त भगवान् की कीमत जानता है कि उस जैसा कोई नहीं, वह कभी भी भगवान् को भूलने के लिए तैयार नहीं, बल्कि उसके पावन हृदय में एक ही भावना है कि हे नाथ! मैं तुम्हारा हूँ, मैं सब कुछ छोड़ सकता हूँ, लेकिन तुम्हें नहीं। चूँकि वह भगवान् के मूल्य को समझ चुका है अब हर परिस्थिति में भगवान् को अपना बनाना और स्वयं भगवान् का बनना चाहता है, बस उसकी एक ही इच्छा है कि तूँ मुझे किसी

यह अटल सत्य है कि मानव परमात्मा का अंश है और परमात्मा मानव का है, फिर संसार से सम्बन्ध कैसा ?